कैनेडा से प्रकाशित साहित्यिक पत्रिका

# वसुधा

Year 9, Issue 33
Jan.-March, 2012

VASUDHA A CANADIAN PUBLICATION

EDITOR - PUBLISHER : SNEH THAKORE

## संपादन व प्रकाशन
## स्नेह ठाकुर

वर्ष ९ - अंक ३३, जनवरी-मार्च २०१२

# मैं और तू दो तो नहीं

**डॉ. श्याम सिंह शशि**

मेरे देश
तेरा चप्पा-चप्पा मेरा शरीर है
तेरा जल मेरा मन है
तेरी वायु मेरी आत्मा है
इन सबसे मिलकर ही
तू बनता है मेरे देश
मैं और तू दो तो नहीं है।
शरीर आत्मा मन
एक ही प्राणी के
स्थूल या सूक्ष्म अंग है
मैं इन्हें बँटने नहीं दूँगा
मैं इन्हें लुटने नहीं दूँगा
मैं इन्हें मिटने नहीं दूँगा.

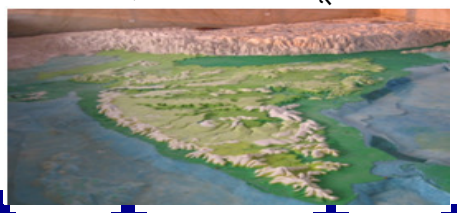

# वसुधा

## संपादन व प्रकाशन : स्नेह ठाकुर


| शीर्षक | रचयिता | पृष्ठ |
|---|---|---|
| संपादकीय | | २ |
| राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी का स्वाभिमान | सिद्धेश्वर | ३ |
| पुर्ज़े जोड़ने वाले चलते पुर्ज़े | डॉ. अशोक चक्रधर | ५ |
| मेरे गीत | डॉ. गोरख प्रसाद 'मस्ताना' | ६ |
| परदेसी | ममता कालिया | ७ |
| मानव-प्रार्थना | राजेन्द्र नटखट | ११ |
| एक अति व्यस्त वकील की पत्नी | कमला सिंघवी | १२ |
| तुम्हारा साथ | मधुप शर्मा | १४ |
| ठिठुरता हुआ गणतन्त्र | हरिशंकर परसाई | १५ |
| ये जीवन-रूप उत्तर कितने कह जाएँ | अक्षय गोजा | १७ |
| जनतंत्र | रमाशंकर सिंह | १८ |
| पीज़्ज़ा | उमेश अग्निहोत्री | २० |
| माँ | डॉ. शिव चौहान 'शिव' | २३ |
| स्वतंत्रता की साधक सुभद्रकुमारी चौहान | डॉ. राजेन्द्र उपाध्याय | २४ |
| दो अक्षर | डॉ. श्याम सिंह शशि | २८ |
| तुम भी | राजी सेठ | २९ |
| मैं खोया हुआ किनारा | रजनी सिंह | ३६ |
| हिन्दी मानसिकता का निर्माण आशा आने वाली पीढ़ी से | डॉ. विद्यानिवास मिश्र | ३७ |
| हिन्दी इस देश की गंगा है | डॉ. अम्बाशंकर नागर | ३९ |
| जब मैंने पहली निजी पुस्तक खरीदी | डॉ. धर्मवीर भारती | ४० |
| प्रवासी भारतीय दिवस - शैक्षिक , सांस्कृतिक, साहित्यिक आयाम भी केंद्र में रहें | अनिल जोशी | ४३ |
| गणतन्त्र दिवस | डॉ. शंभु नाथ | ४४ |
| मैं और तू दो तो नहीं | डॉ. श्याम सिंह शशि | १अ |
| क्या फागुन की फगुनाई है | डॉ. डंडा लखनवी | ४४अ |


रचनाओं में निहित विचार तथा मन्तव्य रचनाकारों के निजी विचार तथा मन्तव्य हैं। 'वसुधा' रचनाकारों के विचारों के लिए उत्तरदायी नहीं है। प्रकाशक की आज्ञा बिना कोई रचना किसी प्रकार उद्धृत नहीं की जानी चाहिए। प्रकाशित रचनाओं पर कोई पारिश्रमिक नहीं दिया जाएगा।

रचनाएँ भेजने के लिए सम्पर्क पता :
16 Revlis Crescent, Toronto, Ontario M1V-1E9, Canada. TEL. 416-291-9534
वार्षिक शुल्क Annual subscription.....$25.00
डाक द्वारा By Mail, Canada & USA.....$35.00, Other Countries.....$40.00
Website: http://www.Vasudha1.webs.com
e-mail: sneh.thakore@rogers.com

## संपादकीय

नव वर्ष में 'वसुधा' अपने साहित्यकारों व पाठकों का अभिनन्दन करती है और कामना करती है कि उनका जीवन मंगलमय हो. भारतीय एवं भारतवंशियों से आग्रह करती है कि वे हिन्दी के प्रति संकल्पित हों, कटिबद्ध हों.

गत वर्ष २०११ कैनेडा में भारत के वर्ष के रूप में मनाया गया था. टोराण्टो के भारतीय कोंसुलावास ने कोंसुलाध्यक्ष माननीया श्रीमती प्रीति सरन जी की अध्यक्षता में तथा उनके सम्पूर्ण अधिकारियों के कुशल संचालन में यह वर्ष अनेकानेक विभिन्न गतिविधियों द्वारा सफलतापूर्वक सम्पन्न किया. माननीया श्रीमती प्रीति सरन जी सहित कोंसुलावास के सभी अधिकारी बधाई के पात्र हैं.

श्रीमती गोपा पाठक, गोरखपुर विश्वविद्यालय के भूतपूर्व वाइस-चांसलर डॉ. विशम्भर शरण पाठक की धर्मपत्नी, चित्रकूट नरेश श्री शिव प्रसाद जू देव की सुपुत्री, मेरी खुन्नू जीजी की आत्मा दीपावली की सुबह, ब्राह्म-मुहूर्त में इस नश्वर संसार को छोड़ ईश्वर से एकात्म होने के लिये मुक्ति-पथ पर चली गयी. जीजी की स्मृतियाँ मेरी अमूल्य धरोहर हैं. यह मेरा सौभाग्य है कि जिस प्रकार मेरे बचपन को उनका स्नेह प्राप्त हुआ, उसी प्रकार ईश्वर कृपा से उनके महाप्रयाण से पहले भी मुझे उनका स्नेह-भाजन बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ. ईश्वर से प्रार्थना है की वह उनकी आत्मा को शांति प्रदान करें.

भाषा और संस्कृति के प्रचार-प्रसार व विकास में कर्मठता से संलग्न 'हिन्दू इंस्टीच्यूट ऑफ लर्निंग के संस्थापक श्रीजगदीशचन्द्र शारदा, अध्यक्ष श्रीराजकुमार शर्मा, सचिव श्रीकैलाश भटनागर व श्रीमहेन्द्र गुप्ता ने सफ़लतापूर्वक संस्था की वर्षगांठ का आयोजन किया. बधाई. अपने इस हर्षोल्लास में ठाकुर साहब व मुझे सम्मिलित करने हेतु धन्यवाद.

'द संडे इंडियन्स' द्वारा 'हिन्दी विश्व की 25 श्रेष्ठ प्रवासी महिला लेखिकाएँ' में मेरा चयन किया गया है. साथ ही 'द संडे इंडियन्स' द्वारा '21वीं सदी की श्रेष्ठ 111 हिन्दी लेखिकाएँ' में भी मेरा चयन किया गया है. श्री ओंकारेश्वर जी, डॉ. गंगा प्रसाद विमल, पत्रिका, संपादक-मण्डल, निर्णायक-मण्डल सभी की आभारी हूँ. माँ सरस्वती की अनुकम्पा हम सब पर बनी रहे, उनका वरद्-हस्त सदैव ही हम सब पर हो, इस अभिलाषा के साथ इसमें चयनित सभी लेखिकाओं को मेरा नमन एवं बधाई. इस सूची में अपनी रचनाओं से वसुधा को गौरवान्वित करने वाली लेखिकाएँ भी हैं, यह मेरा व वसुधा का सौभाग्य है.

हिन्दी अकादमी दिल्ली के कहानी-संकलन के लिये मेरी कहानी तथा हिन्दी अकादमी दिल्ली के काव्य-संकलन के लिये भी मेरी कविताएँ चुनी गयीं. हिन्दी अकादमी एवं श्री तेजेन्द्र शर्मा व श्रीमती उषाराजे सक्सेना की आभारी हूँ.

चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय के एम.ए. के कोर्स के लिये मेरी कविता व कहानी का चुनाव किया गया, आभार.

अपनी पावन पुनीत जन्म-भूमि चित्रकूट की, मार्च २०१० में की गयी यात्रा के दौरान, आदरणीय अम्माँ, कर्नाटक की अम्माँ, माँ मातेश्वरी देवी ने मुझे सुझाव दिया, या यूँ कहूँ कि आदेश दिया तो ज़्यादा यथोचित होगा कि मैं महारानी कैकेयी के चरित्र, उनके उस मातृत्व पक्ष पर लिखूँ जो आम धारणा से हट कर अतीत के गर्भ में, इतिहास के पन्नों में दफ़न हुआ पड़ा है. नारी सुलभ संवेदनाओं के साथ, माँ के संवेगों के साथ, कैकेयी के मातृ-हृदय में पैठकर लिखूँ. अम्माँ ने राम-कथा संबंधी अनेक ग्रंथ उपलब्ध कराये. इस विशद, गम्भीर विषय ने मुझे अनेक दृष्टिकोणों से श्रीराम एवं महारानी कैकेयी के संदर्भ में लिखे गये, माता-विमाता के रूप में कैकेयी के चरित्र-अध्ययन की ओर अग्रसित किया. अम्माँ के आशीर्वाद से 'चिंतन के धागों में कैकेयी' (राम-कथा ग्रंथों पर आधारित एक शोध-प्रबन्ध) का सृजन आरम्भ हुआ. शोध-प्रबन्ध लिखते समय मध्य प्रदेश संस्कृति परिषद, साहित्य अकादमी के निदेशक डॉ. त्रिभुवन नाथ शुक्ल का सुझाव आया कि इस कथा विशेष को आधार बना कर इसे उपन्यास रूप में भी लिखूँ. इस सुझाव में पति श्री सत्य पाल ठाकुर का भी समर्थन जुड़ा और 'कैकेयी : चेतना-शिखा' उपन्यास का सृजन हुआ. चित्रकूट नरेश स्वर्गीय श्री शिव प्रसाद जू देव प्रिय कक्का जी के छोटे सुपुत्र नन्हें राजा, मेरे नन्हें भइया श्री हेमराज चतुर्वेदी, लखनऊ विधान परिषद् के सदस्य एवं लखनऊ के पूर्व-महापौर डॉ. दाऊजी गुप्त, आदरणीय ओंकारश्री जी व श्री सीताराम महर्षि जी ने अपने शुभाकांक्षी विचारों से मुझे समृद्ध किया. उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के पूर्व कार्यकारी अध्यक्ष डॉ. शंभु नाथ एवं उनकी धर्मपत्नी श्रीमती चंदा नाथ ने अपने आत्मीयतापूर्ण आतिथ्य के साथ ही साथ इस हेतु अमूल्य योगदान एवं प्रोत्साहन दिया. 'कम्ब रामायण' की प्राप्ति उन्हीं के सौजन्य से हुयी. सभी प्रियजनों की हृदय से आभारी हूँ. पति श्री सत्य पाल ठाकुर के सहयोग बिना कभी भी कुछ भी संभव नहीं है. उनके प्रति शाब्दिक आभार असीमित है. उनकी धर्मपत्नी, सहचरी बनने का गौरव प्रदान करने की अनुकम्पा हेतु ईश्वर के प्रति कृतज्ञ हूँ. इस कृति की संरचना में मुझे अनेक विद्वानों से तथा ग्रंथों से सहायता मिली है. मैं सभी के प्रति श्रद्धावनत् हूँ. सभी के स्नेह एवं आशीर्वाद से कैकेयी : चेतना-शिखा, उपन्यास का प्रकाशन हो गया है.

नव वर्ष आतंकरहित, मंगलमय हो, इसी शुभ-कामना के साथ, सस्नेह, स्नेह ठाकुर

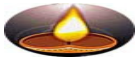

# राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी का स्वाभिमान

**सिद्धेश्वर**

किसी भी देश की पहचान केवल ऊँचे पर्वतों, विशाल सागर, प्रवाहमान नदियों, तारुण्यतीर्थ तरुओं, गगनस्पर्शी भवनों, वीर नरपुंगवों से न होकर वास्तविक रूप से होती है साहित्य, भाषा, संस्कृति एवं कलात्मक दृष्टि से. इसी तरह किसी भी राष्ट्र की एकता और अखंडता के लिए देश में एक भाषा, एक संस्कृति और एक आर्थिक प्रणाली की आवश्यकता होती है. मातृभूमि की भावना में ही राष्ट्रीय भावों को प्रोत्साहन मिलता है. यह भावना देश में पद्धति उत्पन्न करती है और विचारों को व्यावहारिक रूप देती है. भाषाओं के इतिहास के परिप्रेक्ष्य से डेढ़ सौ वर्षों की अवधि में राष्ट्रभाषा हिन्दी ने अपनी विशेषताओं और योग्यताओं के बल पर स्वाभिमान का अहसास कराया है. हमें यह तथ्य विस्मृत नहीं करना चाहिए कि हिन्दी की सभी बोलियाँ मिल कर एक हिन्दी जातीय तंत्र का निर्माण करती हैं. हिन्दी हिंदुस्तान की बोली है, कहीं से लादी गई भाषा नहीं है. यह वह भाषा है जिसका साहित्य परिपूर्ण है. हिन्दी क्रांति, जन-जागरण, देशोत्थान की ऐतिहासिक बोली है. गुरुनानक, संत कबीर ने सामाजिक चेतनाओं को हिन्दी में ही बल प्रदान किया था. रसखान ने ब्रजबिहारी की लीलाओं को गा-गाकर लोक-कल्याण की भावना जगाई थी. महात्मा गाँधी ने मंच पर, पत्र-पत्रिकाओं में, सभा, प्रार्थना, प्रवचन आदि में हिन्दी माध्यम से ही अपार जन-समुदाय को झंकृत किया था.

यही नहीं आज़ादी की लड़ाई हमने 'हिन्दी और हिन्दोस्तां' के नाम पर लड़ी थी. भले ही आज़ादी के बाद हम जैसे एकाएक पलट से गए और हिन्दी की बढ़ती हुई समृद्धि तथा उपादेयता को हमने राजनीति के दीमक से चटवा दिया. दरअसल, हमारे राजनेता डरे नहीं और न ही झुके, बल्कि भाषा संबंधी विवादों से अपना पल्ला झाड़ते हुए उन्होंने उदारवादी तथा निरपेक्ष होने का ढोंग किया, कारण कि उन्हें उनके वोट की चिंता थी. फलस्वरूप अंग्रेजी आज तक फलती-फूलती हम पर लदी है. पुरानी कहावत है, 'कर्ज़ या ख़ैरात का पैसा आदमी के आत्मसम्मान को खा जाता है.' सच तो यह है की इस देश के नेताओं ने जब राष्ट्रीय स्वाभिमान को ही ताक पर रख दिया है, तो उन्हें हिन्दी के स्वाभिमान की फ़िक्र क्यों हो.

राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी के स्वाभिमान को हमें इस परिप्रेक्ष्य में समझना होगा की राष्ट्रीय एकता में इसका बहुत बड़ा योगदान रहा, मानव की सामाजिक एवं राष्ट्रीय भावना को बढ़ाने में भी इसकी अहम् भूमिका रही और देश को औपनिवेशिक दासता से मुक्ति दिलाने के लिए स्वतंत्रता-संग्राम के दौरान हमारे नेताओं, समाज-सुधारकों, कवियों, लेखकों, पत्रकारों और दार्शनिकों ने एकजुट होकर स्वभाषा, स्वदेश और स्वराज के लिए क्या कुछ नहीं किया.

राष्ट्रभाषा हिन्दी का मान रखे वगैर राष्ट्र के सम्मान की कल्पना नहीं की जा सकती. राष्ट्रभाषा के प्रयोग से ही राष्ट्र का नाम गौरवशाली होगा. हिन्दी भारत को एक सूत्र में जोड़ने वाली लोक भाषा है. हिन्दी जानने वाले लोग आज दुनिया भर में फैले हुए हैं. प्रसार की दृष्टि से यह, दुनिया की सबसे बड़ी भाषा है. यह प्रारम्भ से ही सभ्यताओं के समन्वय और सहयोग से विकसित हुई है. हिन्दी की यही शक्ति है और इस शक्ति का स्त्रोत जनता की आकांक्षा और सपने रहे हैं. यह बात अलग है की बदलते समय की अपेक्षाओं के अनुरूप हिन्दी का परिवर्धन और संवर्धन करना होगा.

राष्ट्रभाषा हिन्दी की एक विशेषता यह भी है की हिन्दी भाषा के समस्त शब्दों का ज्ञान अपने अन्त:मन की तिजोरी में रख कर आप अन्य भाषाएँ जैसे तेलगु, तमिल, मलयालम, कन्नड़, बंगाली, गुजराती, मराठी एवं यहाँ तक की अरबी एवं इटालवी भाषाएँ बड़ी सुगमता से सीख सकते हैं. ऐसा कदाचित्

उसके संस्कृत मूलाधार के कारण ही सम्भव हो सका है. इसका व्याकरण तो समस्त भाषाओं के व्याकरण की जननी है. हिन्दी भाषा का जो सौंदर्य-बोध है वह रचनाकार की रचनाओं में तो झलकता ही है इसके साथ वह देश के विभिन्न भागों के विभिन्न भाषा-भाषी लोगों के साथ भी अपनी रचना को पहुँचाने में सफल रहता है. हिन्दी भाषा की यही सौंदर्य चेतना है कि एक देश, जो कई भाषाओं, देशों एवं संस्कृतियों का भंडार है उसे हिन्दी भाषा ने ही एक सूत्र में पिरोया है.

संपर्क भाषा व राष्ट्रभाषा होने के चलते जन-मानस के संवेदन-स्पंदन से विकसित एवं निर्बाध होती है और अपने विकास के लिए शासक-वर्ग की मुखापेक्षी नहीं होती है. राष्ट्रभाषा का क्षेत्र समाज के सभी वर्गों और समस्त कार्य-व्यापार, चिंतन-पद्धति का क्षेत्र है; परन्तु राजभाषा विधान, शासन, न्याय आदि सरकारी तंत्र के प्रत्यक्षत: अधीन तथा सरकार द्वारा नियंत्रित शिक्षा, तकनीक एवं व्यवसाय आदि तक ही सीमित होती है.

राष्ट्रभाषा बुद्धिजीवियों के साथ-साथ अनपढ़-गँवार के बीच भी प्रसार पाती है. इस प्रकार राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को हम पाते हैं कि यह एक समृद्ध और सरल भाषा तो है ही, इसकी देवनागरी जैसी सरल लिपि तो शायद ही कोई हो. राष्ट्रभाषा हिन्दी का क्षेत्र आज व्यापक हो गया है. यह मात्र सम्पर्क भाषा ही नहीं, साहित्यिक भाषा और संघ की राजभाषा के साथ-साथ विश्व के मानचित्र पर भी स्थान पा गई है. यद्यपि भाषा के प्रति भावनात्मक लगाव भी जरूरी है जिसमें राष्ट्रवाद निहित है, तथापि वही भाषा जीवित रहती है जिसमें समकालीन चुनौतियों का सामना करने की सामर्थ्य हो तथा आधुनिक संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने की शक्ति हो. राष्ट्रभाषा हिन्दी अपनी इन्हीं विशेषताओं के चलते राष्ट्रीय, स्थानीय और वैश्विक विविधताओं के बीच एक व्यावहारिक सेतु की भूमिका निभा रही है. इसी की वज़ह से राष्ट्रभाषा हिन्दी को संयुक्त राष्ट्र संघ में भी देर-सबेर मान्यता मिल जायेगी. आख़िर सवा अरब भारतीय जनता की आवाज़ की उपेक्षा कब तक की जा सकेगी? चूँकि भारत की अर्थ-व्यवस्था तेजी से वैश्वीकृत हो रही है, भारत और विकसित राष्ट्रों के बीच नये प्रकार के राजनीतिक कूटनीतिक-सामरिक समीकरण बन रहे हैं अत: भविष्य में लम्बे अर्से तक हिन्दी को संयुक्त राष्ट्र संघ से बाहर रखना बहुराष्ट्रीय आर्थिक महारथियों के लिए लाभदायक नहीं होगा.

इसमें तनिक संदेह नहीं कि राष्ट्रभाषा हिन्दी झलकती है; उसमें भारतीय जीवन, संस्कृति और उस संस्कृति के साथ अंतर्राष्ट्रीय संस्कृतियों के विकास की सहज ध्वनि प्रतिध्वनित होती है. यही कारण है कि विदेशों में सैकड़ों वर्षों से रह रहे भारतीय मूल के लोगों की हिन्दी में भारतीयता का सही रूप आज भी देखने को मिलता है. आज हिन्दी का एक अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप एवं महत्व है.

यह हिन्दी ने अपनी योग्यता द्वारा अर्जित किया है. इन सारी स्थितियों और विशेषताओं की दृष्टि से राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी के स्वाभिमान को अक्षुण्ण बनाये रखना हम सभी सजग एवं जागरूक रचनाकारों, पत्रकारों एवं चिंतकों-विचारकों का न केवल नैतिक दायित्व बनाता है, बल्कि यह हमारा राष्ट्रीय कर्तव्य भी है.

संयम संस्कृति का मूल है। विलासिता निर्बलता और चाटुकारिता के वातावरण में न तो संस्कृति का उद्भव होता है और न विकास। - काका कालेलकर

साहित्य का कर्तव्य केवल ज्ञान देना नहीं है परंतु एक नया वातावरण देना भी है। - डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन

जीवन का महत्व तभी है जब वह किसी महान ध्येय के लिए समर्पित हो। यह समर्पण ज्ञान और न्याययुक्त हो। - इंदिरा गाँधी

कविता का बाना पहन कर सत्य और भी चमक उठता है। - अज्ञात

# पुर्ज़े जोड़ने वाले चलते पुर्ज़े

**डॉ. अशोक चक्रधर**

'चौं रे चम्पू! ऐसौ कौन सौ यंत्र ऐ जाते पैसन की इफरात है जाय?'

'ऐसा एक ही यंत्र है जो पैसों की इफ़रात करा सकता है। पैसों की बरसात करा सकता है। पैसों के दिन-रात करा सकता है।'

'बता-बता!'

'इतनी आसानी से नहीं बताऊँगा चचा! कोई सुन लेगा। कान इधर लाओ तो बताता हूँ। ....और ये भी सुन लो, किसी और को बताना मत! चचा, वो यंत्र है– षड्यंत्र! ....अरे हँस रहे हो! बिल्कुल सही बात बताई है।'

'हाँ! बात में दम ऐ, पर इस्तैमाल कौ तरीका तौ बताऔ?'

'षड्यंत्र नामक यंत्र को लगाने के लिए निष्ठाहीनता की ज़मीन चाहिए। यानी बेवफ़ाई, बेमुरव्वती, अनिष्ठा और नमकहरामी। जिसका खाओ उसको भूल जाओ। खाने के नए-नए प्रबंध करो और पाचन-शक्ति बढ़ाओ। पाचन-शक्ति भी ऐसे नहीं बढ़ेगी। उसके लिए अहसान फरामोशी के साथ चाहिए ज़मीरफरामोशी। अपने ज़मीर को भी धोखा दो। यानी निष्ठाहीनता की ज़मीन पर विश्वासघात की बुनियाद डालो। अपघात करो, कपट करो। गद्दारी, दगाबाज़ी, हरामखोरी ये वे तत्व हैं जो बुनियाद को मज़बूत करते हैं। मित्रद्रोह या मित्रघात से बुनियाद और पुख़्ता होती है। अब षड्यंत्र नामक यंत्र को स्थापित करने के लिए कुछ चीज़ें ऐसैम्बल करनी पड़ेंगी। पुर्ज़े जोड़ने के लिए चलता पुर्ज़ा बनना पड़ेगा। वो पुर्ज़े हैं छल, कपट, छद्म, जालसाज़ी, ठगई, दगा, धाँधली, धूर्तता, प्रपंच, पाखण्ड, फंद, दंद-फंद, फरेब, मक्कारी, फेराहेरी, बेईमानी। इन पुर्ज़ों को जोड़ने वाला एक पुर्ज़ा होता है। षड्यंत्र का सबसे महत्वपूर्ण पुर्ज़ा– भ्रष्टाचार।'

'इत्ते सारे पुर्जा?'

'समाज में बिखरे पड़े मिल जाएँगे। ख़ास मशक्कत नहीं करनी पड़ेगी चचा। इन पुर्ज़ों को इकट्ठा करने के लिए एक सवारी चाहिए। उस वाहन का नाम है– अवसरवाद। चढ़ते सूरज को सलाम करो, अपनी सुविधा, मतलबपरस्ती और स्वार्थ-साधना के लिए स्वयं को परिवर्तनशील बनाओ। तोताचश्म हो जाओ। सवारी करने के लिए गद्दारी का हुनर ज़रूरी है। गद्दारी करो, तभी गद्दी मिलेगी। हर पुर्ज़ा नए पुर्ज़े को ढूँढने में मदद करता है। एक बार अवसरवाद की सवारी कर ली तो राह चलते आँखों में धूल झोंकना, उल्लू बनाना, चकमा देना अपने आप आ जाएगा।'

'कुछ कौशल अनुभव से आएँगे जैसे– साँठ-गाँठ, मिलीभगत, दुरभिसन्धि, कृतघ्नता आदि-आदि। तुम धीरे-धीरे लोगों को काटना सीख जाओगे। मीठी छुरी बन जाओगे। शहद से मीठी छुरी। मौकापरस्त बने रहे तो पस्त नहीं हो सकते। व्यस्त रहोगे और मस्त रहोगे। तुम्हारा यंत्र यानी कि षड्यंत्र, पैसों का धकाधक प्रोडक्शन करेगा। ....और पैसे से क्या काम नहीं हो सकता चचा?'

'का पैसन ते ई सारे काम हौंय?'

'अब चचा तुम मुझे ज़मीन से ज़मीर पर ला रहे हो। सोचना पड़ेगा। बाई द वे, मैं तुम्हारा सवाल भूल गया, ज़रा फिर से बताना।'

'यंत्र कौ इस्तैमाल सुरू कर दियौ का?'

'नहीं चचा! अभी पुर्ज़े जोड़े कहाँ है?'

'मैं तेरी फितरत जानूँ। तू नायँ जोड़ सकै। सब्दन कूं जोड़िबे कौ खेल कर सकै ऐ बस्स। सवाल कौ जवाब दै। का सारे काम पैसन ते ई हौंय?'

'नहीं चचा! कुछ काम सिर्फ 'पैशन' से होते हैं। आंतरिक उत्साह, समर्पण और प्रतिबद्धता से। कोई पैसा दे कर सारे काम नहीं करा सकता। पैशन दुनियादार नहीं होता। वह तो अन्दर की ज्वालाओं में तप कर आता है। वह ख़ुद नहीं बदलता, ज़माने को बदलता है। यह भी एक यंत्र है, पर षड्यंत्र नहीं सद्-यंत्र है। अगर सारे लोग इस यंत्र से काम लें तब भी पैसे की इफ़रात हो सकती है। वह भी अवसरवाद होगा लेकिन सिर्फ अपने लिए नहीं, सबके लिए अवसर। पता नहीं ऐसे दिन देखने का अवसर कब मिलेगा? अपने एक दोस्त हैं चचा, मारूफ़ साहब, वे अक्सर कहा करते हैं– 'ऐसे दिन आएँ कि ख़्वाबों की ज़रूरत न रहे, ऐसे कुछ ख़्वाब भी पलकों पे सजाए रहिए'। मैं मानता हूँ ऐसे दिन आएँगे चचा। पैशन में कमी नहीं रहेगी तो पैसन में भी कमी नहीं रहेगी।'

## मेरे गीत

**डॉ. गोरख प्रसाद 'मस्ताना'**

थकी ज़िंदगी टूट न जाए, मेरे गीत समझना तुम
नदी काव्य की सूख न जाए, मेरे गीत समझना तुम।

इंद्रधनुषी सपनों को तुमसे हैं शत् आशाएँ
मेरे सहज, सरल, सुर विह्वल करुणा राग में गाएँ
सतत् साधना छूट न जाए, मेरे गीत समझना तुम।

काँटों भरी डगर पर चलना तूने मुझे सिखाया
अपनी लय या गति को मैंने प्रिये तुझी से पाया
स्नेह भरा घट फूट न जाए, मेरे गीत समझना तुम।

कलरव गान विहग का मोहक मन में प्रीत जगाता
अपनी रसवाणी से अन्तर्तम का तमस मिटाता
कोई यह सुख लूट न जाए, मेरे गीत समझना तुम।

उम्मीदों का पंख लगाए उड़ता रहा गगन में
शब्द मेरे विचरण करते हैं भावों के उपवन में
सुख के ये पल रूठ न जाएँ, मेरे गीत समझना तुम।
थकी ज़िंदगी टूट न जाए, मेरे गीत समझना तुम।

# परदेसी

**ममता कालिया**

अजब परिवार है हमारा। तीन भाई-बहन तीन देशों में बसे हैं। सब एक दूसरे के लिए तरसते रहते हैं। जब हुड़क तेज़ उठती हैं तो एक दूसरे को लम्बे-लम्बे फोन कर लेते हैं, प्यार-भरे कार्ड भेजते हैं, अगले साल मिलने का वादा करते हैं। कुछ दिनों को जी ठहर जाता है।

पहले सब इकट्ठे रहते थे। लखपत कोट का वह बड़ा मकान भी छोटा पड़ जाता। वहीं शादियां हुई, वहीं नौकरी लगी। बड़े भाई केन्द्रीय विद्यालय में शिक्षक नियुक्त हुए। बहन ट्रेनिंग कॉलेज में प्रशिक्षक। नीरद कपूरथला कॉलेज में लेक्चरर हो गया।

भाई अखबारों का गहन अध्ययन करते थे। अमरजीत अखबार की तरफ ताकती भी नहीं थी। नीरद कॉलेज जाकर कई अखबारों की सुर्खियां देख लेता। उसकी दिलचस्पी का क्षेत्र साहित्य था। उन्हीं दिनों भाई को कैनेडा जाने का रास्ता नज़र आया। अखबार में वहां स्कूलों के लिए दर्जनों पद निकले थे। भाई-भाभी ने चार फॉर्म मंगा लिए। घर में बड़ा बावेला मचा।

बौजी और बीजी ने कहा, "दोनों भाई इकट्ठे चले जाओगे, हम किसके सहारे जियेंगे?'

भाई ने कहा, "अमरजीत है, पंकज है और आपकी सारी कबीलदारी यही है।"

"बेटों का हाथ लगे बिना तो सरग भी नहीं मिलता," बीजी रोने लगीं।

भाई बोले "एक बार हम वहां जम जायें तो आप दोनों को भी बुला लेंगे। बल्कि अमरो और पंकज को भी वहीं काम दिला देंगे।"

शाम को नीरद कपूरथला से लौटा तो बीजी ने उससे कहा, "तू तो बड़ा मीसना (घुन्ना) निकला। अपने आप बाहर जाने का प्रोग्राम बना लिया।"

नीरद हक्का-बक्का। सारी बात जानते ही वह भड़क गया, "मेरे लिए फैसला लेने का हक किसी को नहीं है। चाहे कैनडा हो, चाहे टिम्बकटूं, मैं कहीं नहीं जाऊंगा।" भाई ने समझाया, "यहां से चालीस गुनी तनखा मिलेगी, घर का सारा दलिद्दर धुल जाएगा।"

"आप धोओ अपना दलिद्दर। मेरा फॉर्म कोई जमा न करे।"

"बेवकूफ, तू भरकर दस्तखत करेगा, तभी जमा होगा फॉर्म।"

"कहां हैं फॉर्म, लाओ मैं फाड़ दूं," नीरद उठा।

अमरजीत ने फार्म बीच में लपक लिया। पंकज भी उस दिन वहीं आया हुआ था।

"तुम्हें नहीं जाना तो हमें दे दो। हम भी निकल कर देखें इस नरक से।"

नीरद उलझ पड़ा, "किसे नरक कह रही हो? इस घर को या उस घर को या अपनी नौकरियों को? हद है, जरा सी सेंध क्या मिली, तुम्हें यहां नरक दिखाई देने लगा?"

"क्या है यहां पर! सारे दिन मेहनत करो, गिने-गिनाये रुपये हाथ आते हैं। चार ट्यूशन न करें तो घर का खर्च नहीं चलता। आये दिन लूट-खसोट का आतंक।"

"जा बच्चा, तू भी गोरों का देस देख ले," बौजी ने कहा।

इस तरह एक-एक कर वे चारों चले गये। हम भी बहुत दिन पंजाब नहीं रह पाये। नीरद को इलाहाबाद युनिवर्सिटी में नौकरी मिल गयी और हम सब इलाहाबादी बन गये।

इस बीच बच्चे छोटे से बड़े हो गये। भाई की तीनों बेटियां और अमरो के चीनू मीनू हमारे ताक पर फोटोग्राफ बनकर रखे रहे। उनके बारे में खबर मिलती रही कि सैन्डी बहुत अच्छा पिआनो बजाती है, कि नीता ने सोशल वर्क में ग्रेजुएशन किया है और साधना की शादी वहीं के एक अमीर बाशिन्दे से तय हो गयी है। हमारी स्मृतियों में वे अभी भी बच्चियां थीं, जो यहां से जाते वक्त रो रही थीं और कहती थीं, "हमें नहीं जाना इतनी दूर, हम वापस आ जायेंगे।"

इस बार भाभी ने फोन पर कहा, "भावना, हमारा बहुत अच्छा दोस्त रिचर्ड भारत जा रहा है। एक हफ्ते राजस्थान घूमकर वह इलाहाबाद पहुंचेगा। एक हफ्ते वह वहां रहेगा। उसके आराम का पूरा ध्यान रखना। घर की सफाई कर लेना। कहीं भी गन्दगी, मच्छर, छिपकली न दिखने पाये। रिचर्ड डॉक्टर है। तुम्हारे भाई उसे साथ लेकर आते, पर उन्हें अभी छुट्टी नहीं मिल रही हैं। हमें तुम पर भरोसा है। जैसे हमारे आने पर मेहमाननवाज़ी करती हो, वैसी ही करना।"

इस फोन के बाद काम के तामझाम में मैं बस चकरघिन्नी हो गयी। एक नज़र घर पर डाली, दूसरी परिवार पर। लगा, दोनों गड़बड़ हैं। घर तो बिल्कुल अजायबघर बना हुआ था।

खाने के कमरे में बीजी का तख्त बिछा हुआ था। ड्राइंगरुम का पलस्तर उखड़ा पड़ा था। अन्दर बच्चों ने अपने कमरे को कंप्यूटर-रुम बना रखा था। पढ़नेवाले कमरे में कपड़े बिखरे रहते। ड्रेसिंग टेबिल सीढ़ियों पर रखी थी और रसोई इतनी घिचपिच थी कि खुद मुझे ही उसमें सामान ढूंढ़ने में गश आ जाता। छोटे-से आयतन में बना यह फ्लैट ऐसा था कि इसमें मुहब्बत या मजबूरी के अलावा साथ रहने का कोई औचित्य नहीं था।

मैंने बच्चों से कहा, "देखो, ताईजी के मेहमान तीन दिन बाद आ रहे हैं। तुम अपना कमरा साफ कर लो। बगलवाले कमरे में उन्हें ठहरायेंगे। वे तुम्हारा कमरा देखकर क्या सोचेंगे!" बच्चों ने कोई ध्यान नहीं दिया। दूसरी बार टोकने पर मन्नू अपने कमरे में पड़ी सारी किताबें, सी॰डी॰ और तौलिये हमारे कमरे में पटक आया।

मैं घर-भर का कबाड़ पड़छत्ती पर डालती, आलमारियों के ऊपर चिनती, पौधों को छांटती, पगलायी डोलती रही।

नीरद ने कहा, "क्यों परेशान होती हो। जैसा घर है, वैसा ही रहने दो। अगर यहां उसे तकलीफ होगी तो अपने आप होटल में चला जायेगा।"

मेरे लिए यह तर्क ग्राह्य नहीं था। वह क्या सोचेगा कि पढ़ी-लिखी लड़कियां हिन्दुस्तान में ऐसे घर चलाती हैं। भाभी अलग खफा होंगी।

तीन दिन के घनघोर परिश्रम से मैंने अध्ययन-कक्ष में रद्दोबदल कर उसे अतिथि-कक्ष में तबदील कर दिया। चुन-चुन कर घर की सभी नायाब चीजें यहां पहुंच गयीं।

बिस्तर पर चार इंच का फोम का गद्दा, दीवारों पर पिकासो और विंशी की बनायी हुई तस्वीरों के फोटोप्रिंट, नया टर्किश तौलिया, विदेशी बाथरुम स्लिपर्स, नया जग और एक अदद फ्रिज भी कमरे के बाहर वाली जगह में रखवा दिया।

अन्नू ने इतनी तैयारियां देख कर कहा, "वाह मम्मी! यह कमरा तो बिल्कुल विदेशी लग रहा है। बस एक मेम की कसर हैं यहां पर।"

मैंने कहा, "अन्नू, प्लीज तुम अपना म्यूजिक सिस्टम इस कमरे में लगा दो। अगले हफ्ते तक की बात है।"

आश्चर्य कि बिना हुज्जत के दोनों बच्चों ने अपना जान से प्यारा म्यूजिक-सिस्टम अतिथि-कक्ष में फिट कर दिया। मैंने चुन-चुन कर बाख, बिथोविन, मोजार्ट के कैसेट टेबिल पर रखे। बच्चों ने कहा, "हम थोड़ा पॉप भी रख देते हैं, नहीं तो उसका हाज़मा खराब हो जायेगा।"

साढ़े छः फीट लम्बा रिचर्ड पार्कर जब नीरद के साथ घर में घुसा तो कमरा उसकी उपस्थिति से एकदम भर गया। वह सभी से गर्मजोशी से मिला। बीजी को उसने हाथ जोड़ कर कहा, "नमस्टे!"
मैंने उसके लिए चीज़ सैंड़विचेज बना कर पहले से ही रख लिये थे। जल्दी से चाय बनायी। पुरानी सेविका मालती का मन नहीं माना। इतनी दूर से आये मेहमान को सिर्फ एक चीज के साथ चाय पिलाते हैं कभी? उसने आलू-प्याज़ के पकौड़े बना डाले और पापड़ तल दिये। रिचर्ड इतना सब देख कर भौचक रह गया। उसने गप से एक पकौड़ा मुंह में रखा। "ऊ औ आ।"

पकौड़ा बहुत गर्म था। रिचर्ड कुर्सी से उछला और पकौड़ा मुंह से बाहर निकला। बच्चों की तरफ देखकर हंसा, "सॉरी" उसने कहा। फिर पकौड़े को फूंक-फूंककर मुंह में डाला।

"डेलिशस", उसने कहा और तीन चौथाई प्लेट चट कर गया। उसे चाय भी बढ़िया लगी। यह कहना मुश्किल था कि हमारी मेहनत रंग दिखा रही थी या उसका मूड़।

शाम को हम उसे नदी-किनारे घुमाने ले गए। उसकी आदत थी, वह एक-एक चीज के इतिहास में जाने का प्रयत्न करता।

"यह घाट किसने बनवाया, कौन से सन् में बना?"

"ये मूर्तियां कौन से भगवान की हैं?"

"इतने सारे भगवानों से आप लोग कन्फ्यूज नहीं होते?"

"यह मल्लाह कब से नाव चलाता है, इसकी उम्र क्या है?"

जाहिर था कि हम उसके सभी सवालों के जवाब नहीं दे पाये। घर आकर हमें यह भी लगा कि हम अपने परिवेश के विषय में कितने कम तथ्य जानते हैं।

बीजी ने कहा, "नीरद, रिचर्ड से कह कि निकर बनियान में बाहर न निकले। कपड़े पहन कर जाया करे।"

पर रिचर्ड को बहुत गर्मी लग रही थी। वह कैनेडा के एलबर्टा इलाके से आया था, जहां तापमान हिमांक से कई डिग्री नीचे रहता है।

अंग्रेजी जानते हुए भी उसका लहजा समझने में हमें थोड़ी दिक्कत हो रही थी। किसी तरह काम-चलाऊं बातें हो जातीं। पर मैंने पाया, बीजी और बच्चों को ऐसी कोई परेशानी नहीं थी। वे सब मिलकर घंटो टी•वी• देखते। भाभी ने अपने ऑफिस और घर के अंदर-बाहर का एक वीडियो टेप भी भेजा था। उसे वी•सी•आर पर लगाकर वह बताता जाता, क्या हो रहा है जो बात शब्दों से स्पष्ट न होती, वह अभिनय करके पूरी करता। सब ठहाके लगाते। बिना भाषा के वह बीजी को भाई के हाल बता देता। थोड़ी देर को मैं दोनों के बीच दुभाषिया बनी। फिर बीजी ने मुझे उठा दिया।

"इसकी बातें मेरी समझ आ रही हैं," उन्होंने कहा।

पहली रात मैं मनाती रही कि ऊपर के कमरे में कहीं कोई छिपकाली, चूहा अपनी दैनिक गश्त पर न आ जाय। मच्छरों के खिलाफ कई इन्तजाम पहले से कर रखे थे। खाने का समय सकुशल बीता। सीधा-सादा शाकाहारी भोजन था। उसे अच्छा लगा। पानी उबला हुआ था, फिर भी उसने नहीं पिया। उसने मालती से कहा, "चाय"। हिन्दी के दो तीन शब्द वह वहीं से सीख कर आया था। "अच्छा, हां, नहीं" का उच्चारण और अर्थ वह जानता था।

यह सोचते हुए कि हर विदेशी को खजुराहो जाने की बेताबी होती है, हमने उसके लिए टूरिस्ट बस से वहां जाने का आरक्षण करवा दिया। उसे बताया। उसने गर्दन हिलाई "नो, आइ प्लान टु गो टु सारनाथ।" (नहीं, मेरा इरादा सारनाथ जाने का है।)

"सारनाथ हम सब किसी भी दिन कार से चलेंगे," नीरद ने कहा, "पहले तुम वह जगह तो देख लो, जिसके लिए भारत आये हो।"

उसने कहा, वह ट्री ऑफ नॉलेज, "बोधिवृक्ष - देखेगा। उसकी बहन ने उससे बौद्ध उपासना के उपकरण मंगवाये हैं, वे खरीदेगा।"

हमारे लिए अपने काम से छुट्टी लेना मुश्किल था। उसने कहा, "मैं अकेले चला जाऊंगा। आप मुझे गाड़ी में बिठा दें।"

अच्छे मेज़बान की तरह हमने कहा, "अभी जल्दी क्या है," आये हो तो दो चार दिन रह लो।"

उसने अपनी डायरी दिखायी, जिसमें उसके एक महीने के प्रवास का पूरा टाइम-टेबिल बना हुआ था।

"अनजान जगह में अकेले जाते तुम्हें डर नहीं लगता? मैंने पूछा।

"क्या आपको मुझसे डर लगा? नहीं न! फिर मैं आपसे कैसे डर सकता हूं? इन्सान तो हर जगह एक-सा है।"

"पर तुम्हारे पास हमारी भाषा नहीं है। अपनी जरुरत कैसे बताते हो?"

"काम चल जाता है।"

"देखो, नीरद बोले, "इस देश में जितने अच्छे लोग हैं, उतने बुरे भी। कोई दुश्मन जैसा मिल गया, तब?"

"मुझे आपके भाई ने बताया था कि भारत में पानी के सिवा तुम्हारा कोई दुश्मन नहीं होगा," रिचर्ड ने हंसते हुए कहा।

खजुराहो का आरक्षण रद्द करवा दिया गया। अगले दो दिन का समय उसने ज्यादातर घर में बिताया। दोपहर में वह आनंद-भवन देखकर आया। रात के खाने पर हम सब इकट्ठा बैठकर बातें करते रहे।

परिचय का प्रथम संकोच टूटने के बाद अन्नू मन्नू अपनी पुरानी बुलन्दी पर थे। मन्नू ने पानी अपने गिलास में डालने के चक्कर में मेज़ पर फैला दिया। मैं परेशान हो उठी।

"कितनी बार कहा है, तुम दोनों छोटी मेज़ पर खाया करो," मैंने भुनभुनाते हुए झाड़न की तलाश की, जो नहीं मिला।

"तुम्हें कनरस पड़ा हुआ है। बड़ों के बीच घुसकर बैठना क्या बच्चों को शोभा देता हैं?" मैं और भी बोलती। दिन भर की भड़ास निकलने को थी। वैसे भी परिवार का खयाल है कि डांटते हुए मुझे नशा चढ़ जाता है। गुस्से में मैं जनम-जनम की गलतियां गिनते लगती हूं। दुखी होकर मन्नू ने खाना ही छोड़ दिया। रिचर्ड ने इसरार किया, "मन्नू, मैं तुम्हारा दोस्त हूं। मेरे कहने से खा लो प्लीज।"

"हमें भूख नहीं हैं।" उसने कहा।

उसके छोड़ते ही अन्नू ने भी अपनी प्लेट सरका दी, "हम भी नहीं खायेंगे।"

बीजी बोली, "इधर तो आ, मैं तुम दोनों को खिलाऊंगी। भगतिन बिल्ली की कहानी सुननी है?"

जब ये दोनों छोटे थे, दादी से कहानी सुनते हुए, उन्हीं के हाथ से खाना खाते थे। अब बच्चे कुछ बड़े हो गये थे, पर खाने के समय कभी भी छोटे बन जाते।

दोनों के मुंह फूले रहे।

बीजी ने कहा, "जो मेरे पास पहले आयेगा, उसे एक रुपया मिलेगा।"

दोनों दादी के तख्त पर एक साथ उछलकर चढ़े। मालती ने नयी प्लेट में खाना लगाकर बीजी को दिया। बीजी ने दोनों को बातों में ऐसा लगाया कि वे सारी रोटियां चट कर गये।

मेरा मूड अभी भी उखड़ा हुआ था। हमारे घर में दो दिन भी सभ्यता से रहना दूभर है। बच्चों को अक्ल सिखाओ तो बड़े बोलने लगते हैं। इसीलिए शायद रिचर्ड यहां से जल्दी जा रहा है।

रिचर्ड ने भोजन के बाद चाय पीते हुए हम दोनों से कहा, "आपकी मेहामाननवाज़ी को मैं कभी भुला नहीं पाऊंगा। आपके परिवार में मुझे बहुत अपनापन मिला है।"

"और यहां की गड़बड़ियां भी कभी नहीं भूला पाओगे!" मैंने कहा।

"जिन्हें आप गड़बड़ियां कह रही हैं, उनके लिए हमारे देश में तरसते हैं लोग। कहां मिलती हैं घर-परिवार की गर्मी। मुझे देखिए, बारह साल की उम्र से अकेला हूं। मां-बाप का तलाक हो गया। पहले मां के साथ रहा। दो साल बाद उसने दूसरी शादी कर ली। फिर पिता के साथ रहा। उसके साल भर बाद पिता ने भी शादी कर ली। मेरे लिए कहीं जगह नहीं बची थी।"

"अब तो आप वयस्क हैं।" मैंने कहा।

"पर कितना अकेला। एक बात बताऊं! वहां अलबर्टा में हम सब अकेले हैं, द्वीप की तरह। आपके भाई कभी-कभी कहते हैं, नीरद ने ठीक किया, जो परदेस नहीं आया।

नीरद को अपने पर नाज़ हुआ। बोला, "रिचर्ड, मैं तो तभी जानता था कि रोटी के लिए कोई अपनी मिट्टी नहीं छोड़ता। मेरा तो लिखने-पढ़ने का काम है। शोहरत, बदनामी जो मिलनी है, यहीं मिले। सात समुन्दर पार चला गया तो कौन सुनेगा मेरी आवाज़, मेरे शब्दों में से सारी खुशबू निकल जायेगी।"

"राइट," रिचर्ड ने कहा, "तुम्हारे भाई को उसका एहसास है। आपके घर में अभी डिनर के समय तीन पीढ़ियां एक साथ खाना खा रही थीं। अरे, दुर्लभ सुख है यह। ऐसा दृश्य देखे मुझे बरसों हो गये कि बच्चों के मां-बाप अपने मां-बाप के सामने आज्ञाकारी बच्चे बन जाएं। तीन पीढ़ियां एक छत के नीचे, एक कमरे में प्रेम से बैठी हैं, कहीं कोई तनाव नहीं। आपके बच्चों को एक नॉर्मल लड़कपन मिल रहा है। बहुत बड़ी बात है यह! इसे कभी कम करके मत देखिएगा।"

रिचर्ड सुबह बनारस चला गया, पर मुझे जीवन-भर के लिए शिक्षित कर गया। वह अलमस्त परदेसी सिर्फ सैलानी नहीं था।

## मानव-प्रार्थना

राजेन्द्र नटखट

मानव में गर शक्ति होती
प्रार्थना की उत्पत्ति न होती.
मानव में गर भक्ति होती
प्रार्थना संतति न होती.
मानव में गर विरक्ति होती
लोभ-वृत्ति कतई न होती.
शक्ति, भक्ति, विरक्ति,
प्रार्थना की देन हैं बन्धु!
कहता है सत्-चित्-ज्ञान सिंधु
बिन्दु में झरे बिना सिन्धु
सुज्ञान की वर्षा न होती,
जहाँ पर मति सोती
वहाँ पर कलह होती,
घर, गाँव, शहर में होती
प्रदेश और देश में होती.
मानव मे गर शक्ति होती
दानव की उत्पत्ति न होती.

प्रार्थना में है शक्ति
शक्ति में है भक्ति
भक्ति में है विरक्ति
विरक्ति में है जीवन
जीवन ग्रहण कीजिये!
मरण को मुक्ति दीजिये!
इसी में है बहु-जन हित
इसी में है देश-हित.

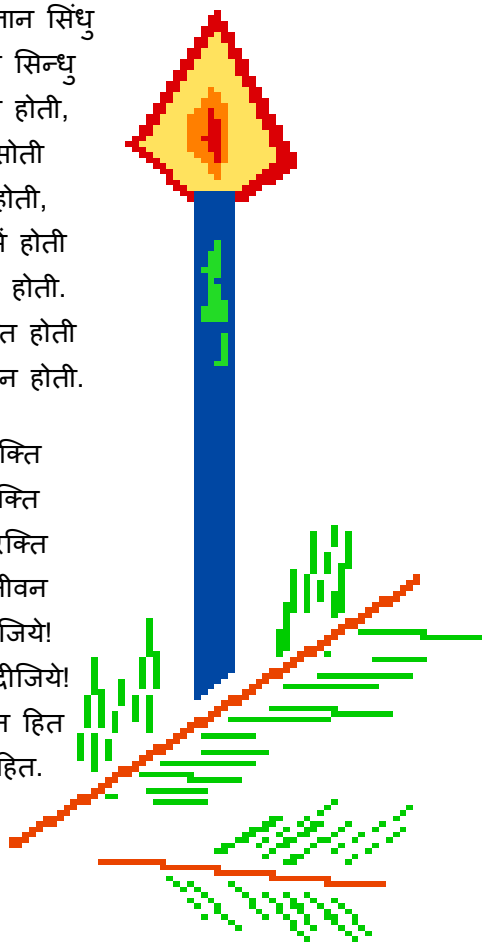

# एक अति व्यस्त वकील की पत्नी

**कमला सिंघवी**

अँग्रेजी की एक कहावत के अनुसार, वकील की पत्नी को वकालत से सौतिया डाह होनी चाहिए. फिर भी मुझे अपने पति की वकालत से द्वेष नहीं है, तो इसका सारा श्रेय शायद उन्हें ही मिलना चाहिए. या फिर यह भी हो सकता है कि मैं बहुत उदारमना हूँ. यदि इनकी व्यस्तताएँ वकालत तक ही सीमित होतीं, तो भी गनीमत थी. इनके विस्तृत कार्य-क्षेत्र को देख कर तो मुझे रोज़ ही द्रौपदी के चीर का स्मरण हो आता है. भूतपूर्व संसद सदस्य, संवैधानिक मामलों के विशेषज्ञ, हिन्दी और अँग्रेजी साहित्य के विद्वान और विभिन्न राजनीतिक, सामाजिक संस्थानों में सक्रिय रूप से हिस्सा लेने वाले मेरे बुद्धिजीवी पति की व्यस्तता अपने-आप में एक अनोखी प्रक्रिया है.

मैं स्वीकार करती हूँ कि इनकी आकण्ठ व्यस्तता को देख कर मैंने कई बार सोचा था कि मैं अपने इकलौते बेटे अभिषेक को हरगिज़ वकील नहीं बनने दूँगी. किन्तु विचारों में ज्यों-ज्यों परिपक्वता आती गई, मेरी धारणा बदलती गई और आज मैं अभिषेक को इनके जैसा ही व्यस्त वकील बनाने को उत्सुक हूँ. वकालत में उसकी रुचि देखकर मुझे मेरे सपने पूरे होने की संभावना स्पष्ट नज़र आती है. यही नहीं, मेरा वश चला, तो मैं अपनी बेटी अभिलाषा को भी वकालत करते देखना चाहूँगी.

वकालत के आरंभिक वर्षों में कठिन संघर्ष होता है. अथक परिश्रम करना पड़ता है और अवकाश का सर्वथा अभाव रहता है. वही पत्नी के लिए परीक्षा के वर्ष होते हैं. सफलता के साथ-साथ इनकी व्यस्तता भी बढ़ती गई, किन्तु इस पेशे में सफलता का अपना ही पुरस्कार है - वैशिष्ट्य है. मैं जानती हूँ कि उस पुरस्कार को अर्जित करने में मेरा और परिवार का आधारभूत योगदान है. इसीलिए इतनी व्यस्तता में भी आश्वस्त और सन्तुष्ट हूँ.

वकालत एक बहुत प्राचीन व्यवसाय माना जाता है. उसमें बुद्धि, विद्वत्ता, वक्तृता और वाक्-कौशल का व्यापक समन्वय आवश्यक है. वकालत की अपनी परम्पराएँ हैं, अपने आदर्श हैं. एक अलग ही परिवेश है. वकील कानून के पुरोहित और व्याख्याता होते हैं और वकालत का पेशा न्याय-तंत्र की एक आवश्यक कड़ी है. एक योग्य वकील की तर्क-शक्ति सुतीक्ष्ण, उसकी बुद्धि अत्यन्त विकसित और उसका ज्ञान सुविस्तृत होता है. मनुष्य-जीवन के हर पहलू को देखने और समझने का अवसर वकील को मिलता है. ऐसे व्यक्ति का सान्निध्य बौद्धिक दृष्टि से स्फूर्तिदायक और बहुरंगी होता है. इनकी इन्हीं विभिन्न गतिविधियों ने शायद मेरे जीवन को इतनी नूतनता और वैविध्य दे दिया है कि किसी भी क्षण मैंने अपने को ऊबा हुआ या बोर नहीं महसूस किया.

वकालत का पेशा बड़ा दिलचस्प माना गया है. अँग्रेजी साहित्य, वकीलों और वकालत के प्रति विभिन्न प्रकार की चुटकियों-चुटकलों से भरपूर है. एक बार डॉ. जॉनसन ने अपना परिचय देते हुए कहा था, 'आप शायद आश्चर्य करें, मैं एक वकील भी हूँ और एक भद्र पुरुष भी!' मानों वकालत और भद्रता में कोई विरोधाभास हो! कई लोग वकालत की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि वकील का काम है सच को झूठ और झूठ को सच साबित करना. किन्तु वास्तव में वकील का कार्य-क्षेत्र समाज में न्याय और व्यक्ति-स्वातंत्र्य की प्रतिष्ठा से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है.

यह बात दूसरी है कि कोर्ट में अदालती बहस करते-करते उनको यह आदत हो जाती है कि घर पर भी हर बात पर बहस करने से बाज नहीं आते.

यह सोलह आने सही है कि वकील की पत्नी होना कठिन धीरज और सहिष्णुता का काम है. यदि वकील साहब बहुत व्यस्त हैं तो उनकी पत्नी की मुश्किल, क्योंकि उनको परिवार के लिए बहुत कम समय मिल पाता है. घर-गृहस्थी की कुछ बातचीत करने के इरादे से या किसी समस्या को लेकर जब इनके पास जाती हूँ तो जनाब 'हाँ-हूँ' में कुछ इस तरह का अजीबोगरीब उत्तर देकर टालने की कोशिश करते हैं कि मारे खीझ के मैं बिना कुछ कहे ही लौट आती हूँ और अपनी समस्या आप ही सुलझाने का प्रयत्न करती हूँ. यदि वकील साहब व्यस्त नहीं हैं तो भी मुश्किल, क्योंकि इसका अभिप्राय यह हुआ कि उनके पास शायद काम और आय दोनों का ही अभाव है! इनकी कार्य-प्रणाली ही कुछ विचित्र-सी है - दिन-भर अदालत में व्यस्त, सुबह-शाम घर में किताबों और कागज़ों से जूझना. दरअसल कोई भी समय उनका अपना नहीं होता. एक व्यस्त वकील का श्रम-दिवस आठ घण्टे की बजाय प्राय: बारह से सोलह घण्टे का होता है और कई बार उससे भी अधिक. कोई उलझी हुई गुत्थी वकील साहब के दिमाग में हो, तो चाहे भोजन का समय हो, चाहे थियेटर का वक़्त, उनके दिमाग पर वही छाई रहती है; और तब ऐसा लगता है कि वे इस समय इस जगह उपस्थित हैं भी और नहीं भी. जब वे किसी केस की फ़ाइल में उलझे होते हैं, तो चाहे सफेद हाथी ही क्यों न इनकी बगल से गुज़र जाए इन्हें मालूम भी नहीं पड़ेगा, फिर मुझ बेचारी की तो बिसात ही क्या! मैं अक्सर कहा करती हूँ कि वकील के पेशे का मतलब यह है कि मुवक्किल आपको शुल्क और अपनी समस्या दे जाता है. शुल्क तो बीबी के हाथ लगता है और समस्या हमारे वकील साहब के सिर पर चढ़ कर बोलती है. ये केस को बौद्धिक चुनौती के रूप में लेते हैं और शुल्क का आधार पृष्ठभूमि में चला जाता है.

अक्सर वकील अपना दफ़्तर घर पर ही रखते हैं, सो आवागमन का ताँता देखते ही बनता है. घर में दफ़्तर होने का एकमात्र फ़ायदा यह है कि मेरी और वकील साहब की दूरी सिर्फ़ एक दीवार की रहती है और जब-तब दफ़्तर को खाली पाती हूँ तो मैं वहाँ पहुँच जाती हूँ. दो-चार पल उनके दर्शनों का लाभ अर्जित कर मुझे वापस लौट आना पड़ता है. मुझे सामने पाकर वे फ़ाइल पर से अपनी नज़र उठाते हैं, मुस्कुराते भी हैं, पर मैं उनके चेहरे पर लिखी यह भाषा अब बख़ूबी समझने लगी हूँ कि 'कमला जी, कल बहुत बड़ा केस लगा हुआ है, प्लीज़ डिस्टर्ब न करना!'

एक दृष्टि से देखा जाए तो वकालत की दुनिया कुछ हद तक एक 'एबनॉरमल' दुनिया है. इसीलिए शायद मेरा यह दायित्व हो गया है कि मैं वकील साहब के दैनिक जीवन को सम्यक्, समरस और मानवीय धरातल पर चलाऊँ. मेरी नाज़ुक स्थिति की कल्पना कीजिये!

वकील साहब जरा फ़ुर्सत में होते हैं तो स्वीकार करते हैं कि मैं उनकी हर जरूरत बड़ी तत्परता और लगन से पूरा करती हूँ. और वास्तव में यथा-सम्भव मैंने इन्हें सामाजिक और पारिवारिक उलझनों और समस्याओं से मुक्त रखा है. पर जब व्यस्तता अपनी चरम-सीमा पर होती है तो ये मेरा किया-कराया सब-कुछ भूल जाते हैं. कोर्ट जाते हुए किसी एक जरूरी कागज़ के न मिलने पर तुरन्त कह बैठेंगे - 'ओफ़ ओ! तुम जरा भी ध्यान नहीं रखती हो, कमला! पता नहीं वह कागज़ तुमने कहाँ फेंक दिया.' दो पल बाद ही वह भला-सा कागज़ उनके कोट की जेब में निकल आता है और वे 'आय एम वेरी सॉरी' कहते हुए कार में बैठ कर कोर्ट की ओर चल देते हैं. शाम को कोर्ट से आते ही जब ये 'कुछ' कह कर पुकारते हुए अन्दर आते हैं तो मेरी दिन-भर की तपस्या पूरी हो जाती है.

जरा अस्त-व्यस्त से हैं वकील साहब, इसलिए मेरे बिना अपने को बड़ा निस्सहाय-सा महसूस करते हैं. यदि वास्तव में न भी करते हों, तो दर्शाते तो ऐसा ही हैं. मुझे इनका यह असहाय-भाव कभी-कभी अच्छा भी लगता है और कभी खीझ भी आती है. हालत कभी-कभी इस हद तक पहुँच जाती है कि इन्हें प्यास लगी हुई होती है, पर काम की अधिकता के कारण कई बार ये घण्टों पानी पिये बिना ही रह जाते

हैं. पता नहीं कैसे मुझे यह अपने-आप महसूस होने लगता है कि अब इन्हें प्यास लगी है. मैं किसी के हाथ पानी का ग्लास भिजवा देती हूँ और ये आज्ञाकारी बालक की भाँति पी लेते हैं.

घर-गृहस्थी से इन्हें मतलब नहीं. मैं कितना खर्च करती हूँ, कहाँ खर्च करती हूँ - इससे इन्हें कोई वास्ता नहीं. अपने लिए, अपने-आप पाँच रूपये खर्च करने की इन्हें फ़ुर्सत नहीं. कोई आदत नहीं. व्यसन नहीं. हो भी कहाँ से, उसके लिए भी तो वक़्त चाहिए!

पता नहीं, इनके पास क्या जादू है कि इतना व्यस्त रहते हुए भी ये मुझे देश-विदेश की यात्राएँ करा देते हैं. जब-तब हम चल-चित्र, नाटक आदि भी देख लिया करते हैं, भले ही प्राय: जब तक हम पहुँचते हैं, पिक्चर आरंभ हो चुकी होती है. पिकनिक पर भी हम प्राय: दूसरे-चौथे रविवार को कुछ घण्टों के लिए चले जाते हैं. वैसे इनसे बातें करने का उपयुक्त समय है - इनका शेव करने का वक़्त. मुझे सख़्त हुक्म है कि जब ये शेव करें, मैं इनके पास खड़ी रहा करूँ. वास्तव में यही क्षण हमारे अपने होते हैं और उस समय हम दोनों को लगता है, मानों समय ठहर गया है. उस समय इनके दिमाग में फ़ाइलें नहीं होतीं, सिर्फ़ मैं होती हूँ.

सच कहूँ तो इनकी व्यस्तता देख कर तो मैं ख़ुद बीमार पड़ने से भी डरने लगी हूँ कि कहीं इन्हें किसी प्रकार की असुविधा न हो जाए. भगवान् की शुक्रगुजार हूँ कि व्यस्तताओं का इतना अतिरेक होते हुए भी मेरे वकील साहब अपने परिवार के प्रति अपने प्रेम और कर्तव्य का निर्वाह करने की कला में बड़े दक्ष हैं. इसीलिए इनकी व्यस्तताओं के प्रति मेरी शिकायत में तीखेपन की बजाय सहिष्णुता की भावना आ गई है.

मेरे समक्ष महत्व इस बात का नहीं है कि इन्होंने मुझे कितना समय दिया, बल्कि महत्व इस बात का है कि वह समय मुझे आख़िर दिया कैसे? अपने पूर्ण सान्निध्य और साहचर्य से इन्होंने हमारे दांपत्य-जीवन में अपनी व्यस्तताओं के बीच भी, माधुर्य और शाश्वत् प्रेम का आसव डाला है. हम दोनों सदैव एक-दूसरे के पूरक बने हैं. इन्होंने मुझे केवल गृहणी अथवा गृह-प्रबन्धक कभी नहीं समझा, सदैव सहचरी माना है. इनकी व्यस्तताएँ हमारे जीवन को कुंठित या उपेक्षित कभी नहीं कर पाई और हमारे रोमांस के क्षणों में शिथिलता कभी नहीं आ पाई. बच्चों के लिए समुचित समय वे नहीं दे पाते, किन्तु उनके शारीरिक और मानसिक व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए अच्छे संस्कार और चरित्र-निर्माण के प्रति पूरी तरह सचेष्ट रहते हैं और जब भी समय मिलता है, बच्चों के साथ वे स्वयं बच्चा बन जाते हैं.

इनकी व्यस्तताएँ मेरी आदत बन चुकी हैं. जब कभी ये यात्रा पर चले जाते हैं तब इन व्यस्तताओं के न रहने से मुझे ऐसा लगने लगता है मानों मेरा सब कुछ खो गया है और मैं पुन: उन कुछ उलझी और कुछ सुलझी व्यस्तताओं में आकण्ठ डूब जाने को आतुर हो जाती हूँ.

## तुम्हारा साथ

**मधुप शर्मा**

**दुख को मैंने**
**कभी नहीं जाना**
**तुम्हारे साथ को ही**
**सुख माना**
**और तुम तो रहे हो**
**हमेशा ही मेरे साथ**
**कभी सामने**
**कभी याद में**
**कभी चाह में**
**कभी आह में**
**कभी हास में**
**कभी उच्छवास में.**

**तुम्हारा मेरा साथ**
**छूटा ही कब**
**जो और कोई हो लेता साथ,**
**चाहे वो सुख का हमजोली**
**दुख ही क्यों न होता.**

# ठिठुरता हुआ गणतंत्र

**हरिशंकर परसाई**

चार बार मैं गणतंत्रदिवस का जलसा दिल्ली में देख चुका हूँ। पाँचवीं बार देखने का साहस नहीं। आखिर यह क्या बात है कि हर बार जब मैं गणतंत्रसमारोह देखता, तब मौसम बड़ा क्रूर रहता। छब्बीस जनवरी के पहले ऊपर बर्फ़ पड़ जाती है। शीतलहर आती है, बादल छा जाते हैं, बूँदाबाँदी होती है और सूर्य छिप जाता है। जैसे दिल्ली की अपनी कोई अर्थनीति नहीं है, वैसे ही अपना मौसम भी नहीं है। अर्थनीति जैसे डॉलर, पौंड, रुपया, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष या भारत सहायता क्लब से तय होती है, वैसे ही दिल्ली का मौसम कश्मीर, सिक्किम, राजस्थान आदि तय करते हैं।

इतना बेवकूफ़ भी नहीं कि मान लूँ , जिस साल मैं समारोह देखता हूँ, उसी साल ऐसा मौसम रहता है। हर साल देखने वाले बताते हैं कि हर गणतंत्रऐसा ही धूपहीन ठिठुरनवाला होता है। दिवस पर मौसम आखिर बात क्या है? रहस्य क्या है?

जब कांग्रेस टूटी नहीं थी, तब मैंने एक कांग्रेस मंत्री से पूछा था कि यह क्या बात है कि हर गणतंत्रदिवस को सूर्य छिपा रहता है? सूर्य की किरणों के तले हम उत्सव क्यों नहीं मना सकते? उन्होंने कहा जरा धीरज रखिए। हम कोशिश में हैं कि सूर्य बाहर आ जाए। पर इतने बड़े सूर्य को बाहर निकालना आसान नहीं हैं। वक्त लगेगा। हमें सत्ता के कम से कम सौ वर्ष तो दीजिए। दिए। सूर्य को बाहर निकालने के लिए सौ वर्ष दिए, मगर हर साल उसका छोटामोटा कोना तो निकलता दिखना चाहिए। सूर्य कोई बच्चा तो है नहीं जो अन्तरिक्ष की कोख में अटका है, जिसे आप आपरेशन करके एक दिन में निकाल देंगे। इधर जब कांग्रेस के दो हिस्से हो गए तब मैंने एक इंडिकेटी कांग्रेस से पूछा। उसने कहा- 'हम हर बार सूर्य को बादलों से बाहर निकालने की कोशिश करते थे, पर हर बार सिंडीकेट वाले अड़ंगा डाल देते थे। अब हम वादा करते हैं कि अगले गणतंत्र दिवस पर सूर्य को निकालकर बताएँगे।'

एक सिण्डीकेटी पास खड़ा सुन रहा था। वह बोल पड़ा - 'यह लेडी कम्युनिस्टों के (प्रधानमंत्री) चक्कर में आ गई है। वही उसे उकसा रहे हैं कि सूर्य को निकालो। उन्हें उम्मीद है कि बादलों के पीछे से उनका प्यारा 'लाल सूरज' निकलेगा। हम कहते हैं कि सूर्य को निकालने की क्या जरूरत है? क्या बादलों को हटाने से काम नहीं चल सकता?'

मैं संसोपाई भाई से पूछता हूँ। वह कहता है- 'सूर्य गैर-कांग्रेसवाद पर अमल कर रहा है। उसने डाक्टर लोहिया के कहने पर हमारा पार्टी-फार्म दिया था। काँग्रेसी प्रधानमंत्री को सलामी लेते वह कैसे देख सकता है? किसी गैर-काँग्रेसी को प्रधानमंत्री बना दो, तो सूर्य क्या, उसके अच्छे भी निकल पड़ेंगे। जनसंघी भाई से भी पूछा। उसने कहा- 'सूर्य सेक्युलर होता तो इस सरकार की परेड में निकल आता। इस सरकार से आशा मत करो कि भगवान अंशुमाली को निकाल सकेगी। हमारे राज्य में ही सूर्य निकलेगा। साम्यवादी ने मुझसे साफ़ कहा- 'यह सब सी.आई.ए. का षडयंत्र है। सातवें बेड़े से बादल दिल्ली भेजे जाते हैं।'

स्वतंत्र पार्टी के नेता ने कहा- 'रूस का पिछलग्गू बनने का और क्या नतीजा होगा?'

प्रसोपा भाई ने अनमने ढंग से कहा- 'सवाल पेचीदा है। नेशनल कौंसिल की अगली बैठक में इसका फ़ैसला होगा। तब बताऊँगा।'

राजाजी से मैं मिल न सका। मिलता, तो वह इसके सिवा क्या कहते कि इस राज में तारे निकलते हैं, यही गनीमत है।'

मैं इंतजार करूँगा, जब भी सूर्य निकले।

स्वतंत्रता-दिवस भी तो भरी बरसात में होता है। अंग्रेज बहुत चालाक हैं। भरी बरसात में स्वतंत्र करके चले गए। उस कपटी प्रेमी की तरह भागे, जो प्रेमिका का छाता भी ले जाए। वह बेचारी भीगती बस-स्टैंड जाती है, तो उसे प्रेमी की नहीं, छाता-चोर की याद सताती है।

स्वतंत्रता-दिवस भीगता है और गणतंत्र-दिवस ठिठुरता है।

मैं ओवरकोट में हाथ डाले परेड देखता हूँ। प्रधानमंत्री किसी विदेशी मेहमान के साथ खुली गाड़ी में हैं। रेडियो टिप्पणीकार कहता है- 'घोर करतल-ध्वनि हो रही है।' मैं देख रहा हूँ, नहीं हो रही है। हम सब तो कोट में हाथ डाले बैठे हैं। बाहर निकालने का जी नहीं हो रहा है। हाथ अकड़ जाएँगे।

लेकिन हम नहीं बजा रहे हैं, फिर भी तालियाँ बज रहीं हैं। मैदान में जमीन पर बैठे वे लोग बजा रहे हैं, जिनके पास हाथ गरमाने के लिए कोट नहीं है। लगता है, गणतंत्र ठिठुरते हुए हाथों की तालियों पर टिका है। गणतंत्र को उन्हीं हाथों की ताली मिलतीं हैं, जिनके मालिक के पास हाथ छिपाने के लिए गर्म कपड़ा नहीं है। पर कुछ लोग कहते हैं- 'गरीबी मिटनी चाहिए।' तभी दूसरे कहते हैं- 'ऐसा कहने वाले प्रजातंत्र के लिए खतरा पैदा कर रहे हैं।'

गणतंत्र-समारोह में हर राज्य की झाँकी निकलती है। ये अपने राज्य का सही प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। 'सत्यमेव जयते' हमारा मोटो है मगर झाँकियाँ झूठ बोलती हैं। इनमें विकास-कार्य, जनजीवन इतिहास आदि रहते हैं। असल में हर राज्य को उस विशिष्ट बात को यहाँ प्रदर्शित करना चाहिए जिसके कारण पिछले साल वह राज्य मशहूर हुआ। गुजरात की झाँकी में इस साल दंगे का दृश्य होना चाहिए, जलता हुआ घर और आग में झोंके जाते बच्चे। पिछले साल मैंने उम्मीद की थी कि आन्ध्र की झाँकी में हरिजन जलते हुए दिखाए जाएँगे। मगर ऐसा नहीं दिखा। यह कितना बड़ा झूठ है कि कोई राज्य दंगे के कारण अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति पाए, लेकिन झाँकी सजाए लघु उद्योगों की। दंगे से अच्छा गृह-उद्योग तो इस देश में दूसरा है नहीं। मेरे मध्यप्रदेश ने कुछ साल पहले सत्य के नजदीक पहुंचने की कोशिश की थी। झाँकी में अकाल-राहत कार्य बतलाए गए थे। पर सत्य अधूरा रह गया था। मध्यप्रदेश उस साल राहत कार्यों के कारण नहीं, राहत-कार्यों में घपले के कारण मशहूर हुआ था। मेरा सुझाव माना जाता तो मैं झाँकी में झूठे मास्टर रोल भरते दिखाता, चुकारा करनेवाले का अँगूठा हज़ारों मूर्खों के नाम के आगे लगवाता। नेता, अफसर, ठेकेदारों के बीच लेन-देन का दृश्य दिखाता। उस झाँकी में वह बात नहीं आई। पिछले साल स्कूलों के 'टाट-पट्टी कांड' से हमारा राज्य मशहूर हुआ। मैं पिछले साल की झाँकी में यह दृश्य दिखाता- 'मंत्री, अफसर वगैरह खड़े हैं और टाट-पट्टी खा रहे हैं।

जो हाल झाँकियों का, वही घोषणाओं का। हर साल घोषणा की जाती है कि समाजवाद आ रहा है। पर अभी तक नहीं आया। कहां अटक गया? लगभग सभी दल समाजवाद लाने का दावा कर रहे हैं, लेकिन वह नहीं आ रहा। मैं एक सपना देखता हूँ। समाजवाद आ गया है और वह बस्ती के बाहर टीले पर खड़ा है। बस्ती के लोग आरती सजाकर उसका स्वागत करने को तैयार खड़े हैं। पर टीले को घेरे खड़े हैं कई समाजवादी। उनमें से हरेक लोगों से कहकर आया है कि समाजवाद को हाथ पकड़कर मैं ही लाऊँगा। समाजवाद टीले से चिल्लाता है- 'मुझे बस्ती में ले चलो।' मगर टीले को घेरे समाजवादी कहते हैं - 'पहले यह तय होगा कि कौन तेरा हाथ पकड़कर ले जाएगा।'

समाजवाद की घेराबंदी है। संसोपा-प्रसोपावाले जनतान्त्रिक समाजवादी हैं, पीपुल्स डेमोक्रेसी और नेशनल डेमोक्रेसीवाले समाजवादी हैं। क्रान्तिकारी समाजवादी हैं। हरेक समाजवाद का हाथ पकड़कर उसे बस्ती में ले जाकर लोगों से कहना चाहता है- 'लो, मैं समाजवाद ले आया।'

समाजवाद परेशान है। उधर जनता भी परेशान है। समाजवाद आने को तैयार खड़ा है, मगर समाजवादियों में आपस में धौल-धप्पा हो रहा है। समाजवाद एक तरफ उतरना चाहता है कि उस पर पत्थर पड़ने लगते हैं। 'खबरदार, उधर से मत जाना!' एक समाजवादी उसका एक हाथ पकड़ता है, तो दूसरा हाथ पकड़कर खींचता है। तब बाकी समाजवादी छीना-झपटी करके हाथ छुड़ा देते हैं। लहू-लुहान समाजवाद टीले पर खड़ा है।

इस देश में जो जिसके लिए प्रतिबद्ध है, वही उसे नष्ट कर रहा है। लेखकीय स्वतंत्रता के लिए प्रतिबद्ध लोग ही लेखक की स्वतंत्रता छीन रहे हैं। सहकारिता के लिए प्रतिबद्ध इस आंदोलन के लोग ही सहकारिता को नष्ट कर रहे हैं। सहकारिता तो एक स्पिरिट है। सब मिलकर सहकारितापूर्वक खाने लगते हैं और आंदोलन को नष्ट कर देते हैं। समाजवाद को समाजवादी ही रोके हुए हैं। यों प्रधानमंत्री ने घोषणा कर दी है कि अब समाजवाद आ ही रहा है।

मैं एक कल्पना कर रहा हूँ। दिल्ली में फरमान जारी हो जाएगा- 'समाजवाद सारे देश के दौरे पर निकल रहा है। उसे सब जगह पहुँचाया जाए। उसके स्वागत और सुरक्षा का पूरा बन्दोबस्त किया जाए। एक सचिव दूसरे सचिव से कहेगा- 'लो, ये एक और वी.आई.पी. आ रहे हैं। अब इनका इंतज़ाम करो। नाक में दम है।'

कलेक्टरों को हुक्म चला जाएगा। कलेक्टर एस.डी.ओ. को लिखेगा, एस.डी.ओ. तहसीलदार को। पुलिस-दफ़्तरों में फरमान पहुँचेंगे, समाजवाद की सुरक्षा की तैयारी करो। दफ़्तरों में बड़े बाबू छोटे बाबू से कहेंगे- 'काहे हो तिवारी बाबू, एक कोई समाजवाद वाला कागज आया था न! जरा निकालो!' तिवारी बाबू कागज निकालकर देंगे। बड़े बाबू फिर से कहेंगे- 'अरे वह समाजवाद तो परसों ही निकल गया। कोई लेने नहीं गया स्टेशन। तिवारी बाबू, तुम कागज दबाकर रख लेते हो। बड़ी खराब आदत है तुम्हारी।' तमाम अफसर लोग चीफ़-सेक्रेटरी से कहेंगे- 'सर, समाजवाद बाद में नहीं आ सकता? बात यह है कि हम उसकी सुरक्षा का इंतजाम नहीं कर सकेंगे। पूरा फोर्स दंगे से निपटने में लगा है।' मुख्य सचिव दिल्ली लिख देगा- 'हम समाजवाद की सुरक्षा का इंतजाम करने में असमर्थ हैं। उसका आना अभी मुल्तवी किया जाए।'

जिस शासन-व्यवस्था में समाजवाद के आगमन के कागज दब जायें और जो उसकी सुरक्षा की व्यवस्था न करे, उसके भरोसे समाजवाद लाना है तो ले आओ। मुझे खास ऐतराज भी नहीं है। जनता के द्वारा न आकर अगर समाजवाद दफ़्तरों के द्वारा आ गया तो एक ऐतिहासिक घटना हो जाएगी।

## ये जीवन-रूप उत्तर कितने कह जाएँ

**अक्षय गोजा**

ये जीवन-रूप उत्तर कितने कह जाएँ
बिना उत्तर भी कितने प्रश्न रह जाएँ

मिटें पीड़ा के काँटे, खिलते सुख के फूल
मगर कितने मिटे बिन काँटे सह जाएँ

कभी चाहा नहीं आकाश जीवन में
बिना देखे सपन में खोए रह जाएँ

ये पीड़ा ऐसी, जैसे जल हो सागर का
यूँ खारी धारा में बेबस-से बह जाएँ

गगन में मन के छाया हो निराशा-तम
हज़ारों आशा आस्था-सूर्य कह जाएँ

# जनतंत्र

रमाशंकर सिंह

'अरे, इन्हें रोको कोई,
यह भीड़ कैसी है?
अरे, ज़रा सुनो तो,
ये चीख़ कैसी है?
ये कौन लोग हैं?
देखने में तो कुलीन हैं,
किन्तु कैसे कार्यों में लीन हैं?'
'आश्चर्य!
आपने इन्हें पहचाना नहीं,
इतना भी जाना नहीं
ये हमारे आपके बीच से ही गये हैं,
पर जाकर भीड़ का हिस्सा बन गये हैं।'
'किन्तु हाँ, आप इन्हें पहचानेंगे भी कैसे,
ये हमारे बीच के होकर भी,
हो जाते हैं अज़नबी जैसे।
वर्षों बाद कभी-कभार आ जाते हैं,
चेहरा दिखा जाते हैं।
लेकिन एक विशेष मौसम में,
ये प्राय: रोज़ ही आते हैं,
सबके आगे झोली फैलाते हैं,
अपने लिए समर्थन माँगते हैं,
और बदले में,
आश्वासनों के ढेर दे जाते हैं।
यदि हमने समर्थन दे दिया,
तो जीत जाते हैं - मानो कोई जंग,
सब कुछ सिलसिलेवार बताता हूँ।
और हम ही से स्वयं का माल्यार्पण करा कर,
हमारे ही रहनुमा बन कर,
हमसे ही दूर चले जाते हैं,
हमारी पहुँच से बाहर हो जाते हैं।'
'चलिये, आपकी बात मान लेते हैं,
इतना जन लेते हैं।
परन्तु, यह भीड़,
ये शोर और चीख़ें,
यह आपाधापी, यह मारामारी?
यह कैसी व्यवस्था है?
यह कैसा तंत्र है?'
'सुनिये, आपकी शंका मिटाता हूँ,
ये लोग जहाँ एकत्रित हैं,

उसे 'सदन' कहा जाता है।
जिसे आप शोर, चीख़े,
और न जाने क्या-क्या कहते हैं,
वह 'बहस' है,
हमारी, आपकी, देश की, दुनिया की समस्याओं पर।
ये लोग हमें जो आश्वासन देकर आये हैं,
यहाँ आकर जो शपथ खाये हैं,
इनकी ओर से वे ऐसे ही निभाये जाते हैं।
सुना है,
कभी यहाँ आने वाले लोग,
सौम्यता, शुचिता, त्याग
और बलिदान के प्रतीक होते थे।
जन-जन के लिये अनुकरणीय होते थे।
कुछ अभी भी हैं ऐसे।
संभावना है कि
वे कुछ अच्छा कर सकेंगे।'
'पर ये अकेले चने
क्या ख़ाक भाड़ फोड़ सकेंगे?'
'भाई, यह जन के द्वारा,
जन का ही बनाया,
जन के लिए ही स्थापित व्यवस्था है,
जिसे आप भीड़तंत्र कह रहे हैं,
वह वास्तव में जनतंत्र है।'
'किन्तु यह ऐसे ही कब तक चलेगा?
जनतंत्र के नाम पर
भीड़तंत्र कब तक पलेगा?'
'देखिये, निराश होने की बात नहीं,
संभावनाएँ तो छिपी हैं कहीं न कहीं।
जब जन-जन जागेगा,
अपने इन रहनुमाओं से,
आश्वासनों का हिसाब माँगेगा,
तब उन्हें कुछ न कुछ करना ही पड़ेगा।
अन्यथा,
लोग उन्हें स्वत: नकारेंगे,
उनकी जगह किसी और को स्वीकारेंगे।
तब स्वयमेव बदलेगी अवस्था,
परिवर्तित होगी यह अराजक व्यवस्था,
पराजित होगा यह भीड़तंत्र,
और स्थापित होगा
सुन्दर, सुविचारित जनतंत्र।

# पीज़्ज़ा

**उमेश अग्निहोत्री**

प्रकाश नेहा को पीज़्ज़ा खिलाने ले गया था। उसने कल से जान आफ़त में कर रखी थी। पापा, ले चलो, पीज़्ज़ा खायेंगे। मैं टालता आ रहा था। आज सुबह प्रकाश ने हामी भर दी। वह दो-चार दिन के लिए हमारे यहाँ आया था, मेहमान था, नेहा की बातों में आ गया। पर दोपहर को उसके मित्र रवि का फ़ोन आ गया कि वह मिलने आ रहा है – सो प्रकाश व्यस्त हो गया। नेहा को समझाया, 'बिटिया, आज नहीं कल चलेंगे, सभी चलेंगे, घर में मेहमानों को अकेले छोड़ कर जाना ठीक नहीं है।' लेकिन वह कहाँ मानने वाली थी। वह एक ही ज़िद्द। सहेलियों को अपने साथ चलने के लिये तैयार करने लगी। उसने डिम्पल को फ़ोन किया। जब उसने कहा- डैडी नहीं जाने देंगे, तो नेहा उसके डैडी के सिर हो ली। उन्होंने प्यार से टाल दिया तो उसने दिव्या, शेफाली को फोन किया। फोन पर दिव्या-शेफाली के पापा थे। उन्होंने भी बड़े प्यार और तरीके से नेहा को मना कर दिया। वह हारी नहीं। अतिया आंटी का फोन मिलाने लगी कि मोनी को ले चलें। मैंने कहा, 'नेहा, वह बहुत दूर रहती हैं, कैसे आयेंगी।'

'तो फिर वर्मा आंटी को फ़ोन करके कहो, समित को भेज दो।'

वर्मा आंटी ने भी कोई मुश्किल बता कर इंकार कर दिया।

इस बीच रवि आ गया। प्रकाश और रवि बैठक में बैठे बातें करने लगे। नेहा मेरे पीछे पड़ी रही। मैं उसे भीतर के कमरे में ले गया। वहाँ देखा कि मेरी बड़ी बेटी शिमालिया बैठी रो रही है। पूछा, 'क्या हुआ?'

बोली, 'कितनी पागल है यह। सब मना कर रहे हैं, फिर भी पीछे पड़ी हुई है। इसे समझ क्यों नहीं आता। आठ साल की हो गयी। शी इज़ सो डम।'

दो दिन पहले जब शिमालिया ने यह बात कही थी तो नेहा ने पलट कर कहा था, ''देअर इज़ नथिंग रॉंग इन बीइंग डम।' उसने अपने दोनों हाथ अपनी छोटी सी जैकेट की जेबों में डाल लिये थे और यूं खड़ी हो गयी थी मानों आठ साल की नहीं अट्ठारह साल की हो।

जब से मैं अपनी दोनों बेटियों को लेकर अमेरिका लौटा हूँ, अक्सर घर पर खुद खाना बनाता हूँ - इंडियन खाना। और बाहर किसी इंडियन रेस्त्रां में जाकर खाना मुझे पसंद नहीं है। दाल मखनी हो या मसूर की, एक छोटी-सी प्लेट के जब चार-पांच डॉलर देने पड़ते हैं तो चुभते हैं। मालूम है कि दाल कैसे बनी है, उसमें क्या-क्या पड़ा है तो उसके इतने पैसे क्यों दो। बाहर का खाना खाकर हाज़मा खराब होने का डर अलग रहता है। इसलिये बाज़ार में मसालों के डिब्बों के ऊपर जो पाक-विधि बतायी गयी होती है उसी से काम चलाता हूँ और दोनों बेटियाँ बड़े शौक से खाती हैं। खाना बनाने का यह मेरा पहला अवसर है। फिर भी वह मेरे बनाये पकवानों की तारीफ़ करती हैं। खाना खाते हुए कहेंगी, बहुत मज़े का बना है....सब्ज़ी थोड़ी और देना।....आप तो शन्नो मासी से भी अच्छा बनाते हो।....पापा, आप खिचड़ी बनाओ जैसी मम्मी बनाती हैं। मैं मन ही मन अपने को शैफ समझने लगा हूँ।

अक्सर दोनों खाना बनाने में मेरी मदद भी करती हैं। मैं सब्ज़ी बनाता हूँ, नेहा सलाद काटती है, मैं चपाती बनाता हूँ, शिमालिया उन्हें चुपड़ती है। मैं खाना परोसता हूँ, वे दोनों प्लेटें लगाती हैं। बाद में वह बर्तन साफ़ करने को भी तैयार रहती हैं, मैं ही मना कर देता हूँ। यानि कि, यूँ तो सब ठीक चल रहा है, बस मुश्किल तब पड़ती है जब नेहा कहती है, 'पापा, बोर हो रही हूँ, कहीं बाहर चलिये घूमने, खाना बाहर खायेंगे।' उसकी बड़ी बहन, जो खुद अभी तेरह की ही है उसे कभी डाँटती है कभी प्यार से समझाती है, अंत में वह ही हार जाती है और रोती-झींकती मेरे पास आती है, 'पापा, शी इज़ रीयली डम। इसे समझ क्यों नहीं आता। यह बच्ची नहीं है।'

मेरा सिर भिन्ना जाता है। मुँह से निकलता है, 'हे भगवान! इनकी माँ को भेज। वह ही इन्हें सँभाल सकती है।'

हमें नई दिल्ली एयरपोर्ट से विदा करते हुए इनकी माँ ने – जिसे भारत में अपने दफ़्तर से लम्बी छुट्टी न मिल

पाने के कारण वहीं रुकना पड़ गया था, कहा था – आप अकेले अपनी इन बिगड़ी शहज़ादियों को कैसे सँभालेंगे। बड़ी तो तब भी समझदार है, लेकिन यह छोटी, यह तो नाक में दम कर देगी।

मैंने जवाब दिया था, 'ऐसी क्या मुश्किल है, तीन-चार महीने की ही तो बात है। उसके बाद तुम आ ही जाओगी। तब तक कुछ कर करा लेंगे।' पास ही खड़े प्रीतेंद्र मामा ने अपनी भांजियों के गाल थपथपाते हुए कहा था, 'चौदह साल के विवाहित जीवन में तुम्हारी माँ को पहली बार आराम मिलेगा, और तुम्हारे पापा को पहली बार पता चलेगा कि बच्चे पालना क्या होता है।'

ठीक ही कहा था उसने। मुझे नेहा की ज़िद के आगे हार माननी पड़ी थी। बड़ी बेटी ने तो खीज कर साथ चलने से इंकार कर दिया, पर नेहा को पीज़्ज़ा खिलाने ले जाना ही पड़ा। मुझे लगा, पीज़्ज़ा तो महज़ एक बहाना था, वास्तव में वह उस जगह जाना चाहती थी जहाँ पीज़्ज़ा तो मिलता है, मगर साथ ही वहाँ बहुत से वीडिओ-खेल भी लगे हुए थे और वह वीडियो-खेल खेलना चाहती थी। वहाँ पहुंचते ही उसने दो डॉलरों के टोकन लिये, मुझ से बोली कि पीज़्ज़ा का ऑडर अभी मत देना, मैं बताऊँगी कौन-सा लेना है, और वीडिओ की कोई खाली खेल-मशीन ढूँढने लगी।

हर मशीन के आगे एक न एक व्यक्ति या कोई बच्चा खड़ा था। कुछ अधिक लोकप्रिय खेलों के आगे दो-दो तीन-तीन बच्चे अपनी बारी की पहले से ही प्रतीक्षा कर रहे थे। वातावरण में वीडिओ-खेलों का कोलाहल था। लोग दाँय-बाँय हर तरफ आ-जा रहे थे। कोई पीज़्ज़ा काउंटर पर पीज़्ज़ा का आर्डर दे रहा था, तो कोई पीज़्ज़ा लेकर बैठने के लिए सीट ढूँढ रहा था। कोई हाथ में कोका-कोला, पेप्सी-कोला या किसी और पेय का गिलास पकड़े दूसरों को खेलते हुए देख रहा था। बहुत छोटे बच्चों वाले अपने बच्चों पर नज़र रखे हुए थे। उन्हें समझा रहे थे अब बस करो, बहुत हो गया। पर बच्चे अपने माँ-बाप से एक-दो डॉलर लेकर कुछ और टोकन लेने भाग जाते थे। अचानक मैंने पाया कि नेहा भी मेरे पास नहीं है। छुटकी-सी न जाने कब भीड़ में गुम हो गयी। मैने देखा वह एक वीडियो-गेम के आगे खड़ी है। उसकी चुस्त आँखों ने कोई खेल खाली पड़ा देख लिया था और उसने वहाँ जाकर उस पर कब्ज़ा कर लिया था।

मैंने समीप जा कर देखा वह पैकमैन नाम का खेल खेल रही है। उसकी आँखें वीडिओ-खेल के स्क्रीन पर जमी हुई हैं और उसकी छोटी सी मुट्ठी एक लट्टू जैसी मूठ पर है जिसके इशारे पर, स्क्रीन पर पैकमेन नाम की एक गोलाकार चीज़ अपनी लपलपाती ज़बान से आड़ी-तिरछी रेखाओं के बीच बिछे बिंदुओं को निगलती जा रही है। जितने बिंदुओं को पैकमेन निगलता है, खिलाड़ी को उतने ही अधिक अंक मिलते जाते हैं। तो यह है इसका मनपसंद खेल, जिसके बारे में शिमालिया ने मुझे बताया था कि नेहा बहुत अच्छा खेलने लगी है। उसने बताया था कि शुरू-शुरू में उसका स्कोर हज़ार-दो हज़ार से ऊपर नहीं टपता था, पैकमेन बिंदुओं को निगलने की बजाये खुद ही किसी 'भूत' का शिकार हो जाता था। अब नेहा दस-बीस हज़ार तक स्कोर बड़े मज़े में कर लेती है, भूत को पैकमेन के आगे फटकने नहीं देती।

मुझे बच्चों का वीडिओ खेल खेलना पसंद नहीं है। मैं उन्हें वीडिओ-खेल खरीदकर घर लाने नहीं देता। उन्हें ऐसे खेल खेलने चाहिये जिनसे शरीर की कसरत हो, हाथ-पाँव हिलें, मासपेशियाँ मजबूत हों। यह क्या कि एक ही जगह खड़े हो रहे, और स्क्रीन पर पैकमेन तो क्या बैडमिंटन और सॉकर जैसे कसरती, साँस-फुलाऊ खेल खेलते रहे। इन खेलों से तो भी एक खेल की तरह प्रस्तुत किया जाने लगा है।

मैं चाह रहा था कि नेहा जल्दी से जल्दी दो-तीन गेम खेले, पीज़्ज़ा खाये और घर चले। लेकिन वह मुझे घेर-घार कर लायी थी। अपने आठ साल के जीवन-अनुभव से उसने इतना अवश्य जान लिया था कि माँ-बाप से किस तरह काम निकाला जाता है। जब दोनों साथ हों तो उनसे कभी-कभी बात मनवानी ज़रूर कठिन हो जाती है, लेकिन अगर दोनों में से कोई एक अकेला हो तब तो काम बहुत आसान हो जाता है। वह खेल में मेरी रुचि जगाने की कोशिश करने लगी। बीच-बीच में बोलती, 'पापा आप खेलोगे। मैं जवाब देता तू ही खेल।'

उसने मेरा हाथ पकड़ कर कहा, 'खेलो न। आपको बड़ा मज़ा आएगा। मैं हाथ पीछे खींच लेता। वह फिर खेलने लगती।'

'ओ गॉश!'

'क्या हुआ?'

उसने मुझे समझाया, 'आठ सौ प्वाइंट मिलनेवाले थे। ज़रा सी गलती से रह गये।'

मैं चुप रहा। खेल खत्म हुआ। मैंने कहा, 'चल अब।'

वह मुझे देख कर हँसने लगी।

मैंने पूछा, 'क्या हुआ।'

बोली, 'इट इज़ थ्रिलिंग।' उसने मेरा हाथ पकड़ कर मशीन पर रख दिया। मैं पैकमेन खेलने लगा।

'पापा पैकमेन इज़ ए गुड गाइ। पापा गुड गाइ और बैड गाइ में क्या फर्क है?'

मैं सोचने पर मज़बूर हो गया। मैंने कहा, 'गुड गाई अच्छे काम करता है और बैड गाइ बुरे काम करता है।'

'तो यह चॉयस का मामला है।'

मैं लाजवाब हो गया। इतनी छोटी सी उम्र में इतनी बड़ी बात। वह अभी और बोलना चाहती थी, लेकिन मैंने उसे घर चलने के लिये ज़ोर दिया और याद दिलाया कि प्रकाश और रवि अंकल घर पर इंतज़ार कर रहे हैं।

उसने मेरी बात सुनी नहीं, 'और पीज़्ज़ा ! वह ही खाने तो आये थे।'

पीज़्ज़ा के लिये ऑर्डर देने के कई काउंटर थे। हर काउंटर पर लम्बी-लम्बी कतारें थीं। पीज़्ज़ा के लिये पहले इन क़तारों में खड़ा होना पड़ता, फिर बारी आती और उसके पंद्रह-बीस मिनट बाद पीज्जा मिलता। पीज़्ज़ा लेनेवाले हर व्यक्ति को वीडियो-खेल खेलने के दो टोकन मुफ़्त मिल रहे थे। मुझे लगा, नेहा इन्हीं टोकनों के लिये पीज़्ज़ा लेना चाहती है। टोकन मिलेंगे तो वह और खेलेगी और घर लौटने में देर हो जायेगी। कहा, 'घर चल कर खाना खा लेना।'

'नहीं।' उसने दृढ़ता से कहा।

'क्यों?'

'आपने प्रॉमिस किया था, पीज़्ज़ा खिलाओगे, पापा।'

'बहुत लम्बी लाइन है, नेहा।'

'लेकिन आपने कहा था, पापा।'

'तो क्या हो गया'.... मैंने उसे चुप सा कराते हुए कहा।

उसने मेरा चेहरा देखा। फिर अनमने स्वर में कहा, 'ठीक है।' और बाहर दरवाज़े की तरफ चल पड़ी।

'अच्छा वापस आजा', मैंने पुकारा।

'रहने दो पापा' उसने गंभीर बनते हुए कहा, मानों बिना खाये लौटना उसे बिलकुल बुरा न लगा हो।

मुझे लगा, मैंने अकारण ही उसका दिल दुखा दिया है। इसलिये ज़ोर देते हुए कहा, 'अब आ भी जा।'

वह मेरे पास आकर खड़ी हो गयी। लाइन धीरे-धीरे बढ़ रही थी। काउंटर पर खड़ा व्यक्ति हर ग्राहक से ऑर्डर ले रहा था। ग्राहकों से पैसे लेकर एक पर्ची पर नम्बर लिखता जा रहा था और उन्हें अपनी बारी की प्रतीक्षा करने के लिये कह रहा था।

काउंटर के पीछे दीवार-घड़ी से मैंने अनुमान लगाया कि मेरी बारी आने में दस मिनट लग सकते हैं और उसके बाद पीज़्ज़ा के लिये और दस-पंद्रह मिनट प्रतीक्षा करनी पड़ सकती है। नेहा मुझे बता रही थी कि वह बड़ा पीज़्ज़ा लेगी शिमला मिर्च वाला, पैपरोनी वाला नहीं। साथ में पीने के लिये कोक लेगी।

वह मुझे उलझाये रखना चाहती थी। उसने मुझ से कहा, 'पापा, पीज़्ज़ा हम घर ले चलेंगे शिमालिया भी खा लेगी। उसे भी बहुत अच्छा लगता है।'

मैं उसकी तरफ देखे बिना हाँ-हूँ करता रहा।

जैसे ही हमारी ऑर्डर देने की बारी आयी, काउंटर पर खड़े व्यक्ति ने कहा, 'दो मिनट रुकिये, अभी आता हूँ।'

'क्या मतलब!' इतने देर से क्यू में खड़ा था। अब बारी आयी तो काउंटर खाली हो गया। अब और इंतज़ार करो। मैं क्यू से एक दम बाहर निकल आया, 'बोला चल चलें।' और तेज़ कदमों से बाहर के दरवाज़े की ओर चल दिया।

पीछे से मुझे नेहा की आवाज़ सुनाई दी, 'क्यों पापा, अभी आप कह रहे थे पीज़्ज़ा खा ले, अब कह रहे हो घर चल।' वह रुक-रुक कर मेरे पीछे-पीछे चली आ रही थी।

मैंने खीज कर कहा, 'बहुत देर हो रही है नेहा।'

'आप हमेशा ऐसा ही करते हैं।' वह न चाहते हुए भी मेरे पीछे-पीछे आ रही थी।

मैंने उसे फटकारा, 'नेहा तूने बहुत तंग कर रखा है। तू चाहती है तुझे रोज़ कहीं न कहीं लेकर चलूँ। मुझे और काम भी करने हैं।'

वह रोते हुए कुछ ऊँचे स्वर में बोलने लगी, 'आप हमेशा ऐसा ही करते हैं हमेशा! हमेशा! हमेशा!!!'

मुझे गुस्सा आ गया। उसे हाथ दिखाते हुए कहा, 'बस कर। एक बात के पीछे ही पड़ जाती है। मेरी तौबा जो अब कभी पीज़्ज़ा खिलाने लाया तुझे।'

वह रो पड़ी। मैंने और भी फटकारते हुए कहा, 'सीधे घर चलो। जो बना है खाओ। खबरदार मेरे सामने बाहर चलने का नाम लिया तो....।'

कार में वह चुपचाप पिछली सीट पर बैठी रही।

पार्किंग लॉट से एपार्टमेंट की ओर जाते हुए हम एक-दूसरे से दूर-दूर खामोश चलते रहे। उसकी आँखों में आँसू थे, लेकिन वह अपना चेहरा संयत रखे थी। घर से सौ सवा-सौ कदम पहले, मैंने अपना निर्णय ठीक ठहराने के अंदाज़ में कहा, 'माना मैंने कहा था पीज़्ज़ा खिला लाऊँगा, लेकिन देखा था कितनी भीड़ थी, पता है कितना वक्त लगता। प्रकाश और रवि अंकल घर पर इंतज़ार कर रहे हैं।'

वह चुप रही। ठंड में वह अपनी जेबों में हाथ डाले चलती रही।

मैं कहता गया, 'और भी बच्चे हैं तुम्हारे साथ के। सभी अपने माँ-बाप का कहना मानते हैं।'

नेहा की आँखों से आँसू बह निकले। वह अपना मुँह बंद रखे हुए थी, ताकि उसका रोना सुन कर पास से गुज़रते लोग उसे न देखने लगें।

मैं कहता गया, 'डिंपल के पापा ने मना किया वह मान गई। समित की मम्मी ने उसे इशारा किया, वह समझ गया। सब बच्चे अपने घर में खाना खाते हैं। कभी सुना है दिव्या-शेफाली ने अपने मम्मी-पापा से कहा हो बाहर खाना खिलाने ले चलो?'

वह पैर पटकते हुए एकाएक फूट पड़ी, 'उनकी मां, रोज़ उनके लिये इतना स्वाद खाना बनाती हैं, उन्हें खाना बाहर जाकर खाने की क्या ज़रूरत है।'

'बस-बस, चुप कर', मैंने डपट दिया।

कुछ क़दम हम खामोश चलते रहे। घर की सीढ़ियों के पास पहुँच कर वह रुक गई। मैं आगे निकल गया। शिमालिया, जो अपार्टमेंट की बाल्कनी में खड़ी हमारी प्रतीक्षा कर रही थी। उसने मेरे और नेहा के बीच यह झगड़ा होते देख लिया था। और कुछ सुन भी लिया था। वह सीढ़ियाँ फलाँगती दौड़ी चली आयी। उसने नेहा के पास जाकर उसके कान में कुछ कहा। शिमालिया का चेहरा कुछ सख़्त हो गया। मैंने सुना उसने नेहा से कहा है, ''यू आर सो डम।''

## माँ

**डॉ. शिव चौहान 'शिव'**

गंगा के पवन नीर-सी निर्मल
परोपकार की मूरत, माँ
शब्दों में बखानी न जाये
ब्रह्मरूप में होती, माँ
वेदों में हैं, ऋचाएँ या
कर्मयोग में गीता माँ

पीड़ा गर घनीभूत हो जाये
याद जरूर तब आती, माँ
ममता के आँचल को पसारे
नित उठ सुधा लुटाती, माँ
लोरी, पलना संग जुड़ी है
एक अनसुलझी पहेली, माँ.

# स्वतंत्रता की साधक सुभद्राकुमारी चौहान

डॉ. राजेन्द्र उपाध्याय

सुभद्रा कुमारी चौहान की 'खूब लड़ी मर्दानी वो तो झाँसी वाली रानी थी' कविता की चार पंक्तियों से पूरा देश आज़ादी की लड़ाई के लिए उद्वेलित हो गया था। ऐसे कई रचनाकार हुए हैं जिनकी एक ही रचना इतनी ज़्यादा लोकप्रिय हुई कि उसके आगे की दूसरी रचनाएँ गौण हो गईं, जिनमें सुभद्राकुमारी भी एक हैं। उन्होंने ज़्यादा कुछ नहीं लिखा है। उनकी एक ही कविता 'झाँसी की रानी' लोगों के कंठ का हार बन गई है। एक इसी कविता के बल पर वे हिंदी साहित्य में अमर हो गई हैं।

सुभद्राकुमारी चौहान अपने नाटककार पति लक्ष्मणसिंह के साथ शादी के महज़ डेढ़ साल के भीतर ही सत्याग्रह में शामिल हो गईं और जेलों में ही जीवन के अनेक महत्वपूर्ण वर्ष गुज़ारे। गृहस्थी और नन्हें बच्चों का जीवन सँवारते हुए उन्होंने समाज और राजनीति की सेवा की। देश के लिए कर्तव्य और समाज की ज़िम्मेदारी सँभालते हुए उन्होंने व्यक्तिगत स्वार्थ की बलि चढ़ा दी - न होने दूँगी अत्याचार, चलो मैं हो जाऊँ बलिदान।

सुभद्राकुमारी की कविता 'झाँसी की रानी' महाजीवन की महागाथा है। कुछ पंक्तियों की इस कविता में उन्होंने एक विराट जीवन का महाकाव्य ही लिख दिया है। इस कविता में लोकजीवन से प्रेरणा लेकर लोक आस्थाओं से उधार लेकर जो एक मिथकीय संसार उन्होंने खड़ा किया है उससे 'झाँसी की रानी' के साथ सुभद्रा जी भी एक किंवदंती बन गई हैं। भारतीय इतिहास में यह शौर्यगीत सदा के लिए स्वर्णिम अक्षरों में अंकित हो गया है -

सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटी तानी थी
बूढ़े भारत में भी आई, फिर से नई जवानी थी
गुमी हुई आज़ादी की कीमत सबने पहचानी थी
दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी।

आज हम जिस धर्मनिरपेक्ष समाज के निर्माण का संकल्प लेते हैं और सांप्रदायिक सद्भाव का वातावरण बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं- सुभद्रा जी ने बहुत पहले अपनी कविताओं में भारतीय संस्कृति के इन प्राणतत्वों को रेखांकित कर दिया था -

मेरा मंदिर, मेरी मस्जिद, काबा-काशी यह मेरी
पूजा-पाठ, ध्यान जप-तप है घट-घट वासी यह मेरी।
कृष्णचंद्र की क्रीड़ाओं को, अपने आँगन में देखो।
कौशल्या के मातृमोद को, अपने ही मन में लेखो।
प्रभु ईसा की क्षमाशीलता, नबी मुहम्मद का विश्वास
जीव दया जिन पर गौतम की, आओ देखो इसके पास।

सुभद्राकुमारी चौहान का जन्म नागपंचमी के दिन १६ अगस्त १९०४ को इलाहाबाद के पास निहालपुर गाँव में हुआ था। पिता का नाम ठाकुर रामनाथ सिंह था। सुभद्राकुमारी की काव्य प्रतिभा बचपन से ही उजागर हो गई थी। १९१३ में नौ साल की उम्र में सुभद्रा की पहली कविता प्रयाग से निकलने वाली पत्रिका मर्यादा में छपी थी। 'सुभद्राकुँवरि' नाम से छपी यह कविता 'नीम' के पेड़ पर लिखी गई थी। सुभद्रा अपनी बहनों के साथ स्कूल जाती और स्कूल की चारदीवारी के भीतर दौड़-भाग और खेलकूद की पूरी स्वतंत्रता थी। सुभद्रा चंचल और कुशाग्र बुद्धि थी। पढ़ाई में अव्वल आने का उसको इनाम मिलता था। सुभद्रा अत्यंत शीघ्र कविता लिख डालती, गोया उसको कोई प्रयास ही न करना पड़ता हो। स्कूल के काम की कविताएँ तो वह साधारणतया घर से आते-जाते इक्के में लिख लेती थी। इसी कविता की वजह से भी स्कूल में उसकी बड़ी चाहत थी।

सुभद्रा और महादेवी वर्मा दोनों बचपन की सहेलियाँ थीं। बड़ी होने पर इन दोनों ने साहित्य के क्षेत्र में बहुत नाम कमाया। दोनों ने एक-दूसरे की कीर्ति से सुख पाया। ईर्ष्या की मलिनता उनके बचपन की मैत्री को मलिन नहीं कर पाई।

सुभद्रा की पढ़ाई नवीं कक्षा के बाद छूट गई। गांधी जी की असहयोग की पुकार को पूरा देश सुन रहा था। सुभद्रा ने भी स्कूल से बाहर आकर पूरे मन-प्राण से असहयोग आंदोलन में अपने को झोंक दिया- दो रूपों में। एक तो देश-सेविका के रूप में और दूसरे, देशभक्त कवि के रूप में। 'जलियांवाला बाग' (१९१७) के नृशंस हत्याकांड से उनके मन पर गहरा आघात लगा। उन्होंने तीन आग्नेय कविताएँ लिखीं। 'जलियाँवाले बाग़ में वसंत' में उन्होंने लिखा -

परिमलहीन पराग दाग़-सा बना पड़ा है
हा ! यह प्यारा बाग खून से सना पड़ा है।
आओ प्रिय ऋतुराज ! किंतु धीरे से आना
यह है शोक-स्थान यहाँ मत शोर मचाना।
कोमल बालक मरे यहाँ गोली खा-खाकर
कलियाँ उनके लिए गिराना थोड़ी लाकर।

भाई ने जब सुभद्रा का विवाह नाटककार लक्ष्मण सिंह के साथ तय कर दिया तो सुभद्रा की अध्यापिका ने कहा कि आप इस लड़की का विवाह न करें, यह तो एक ऐतिहासिक लड़की होगी। इसका विवाह करके आप देश का बड़ा नुकसान करेंगे। आगे चलकर यही लड़की सुभद्राकुमाही चौहान हुई, जिन्होंने 'झाँसी की रानी' जैसी ऐतिहासिक कविताएँ लिखीं और जो देश की आज़ादी के लिए अनेक बार जेल गईं।

सुभद्रा की शादी अपने समय को देखते हुए क्रांतिकारी शादी थी। न लेन-देन की बात हुई, न बहू ने पर्दा किया और न कड़ाई से छुआछूत का पालन हुआ। दूल्हा-दुलहन एक-दूसरे को पहले से जानते थे, शादी में जैसे लड़के की सहमति थी, वैसे ही लड़की की भी सहमति थी। बड़ी अनोखी शादी थी - हर तरह लीक से हटकर। ऐसी शादी पहले कभी नहीं हुई थी।

जबलपुर से दादा माखनलाल चतुर्वेदी कर्मवीर निकालते थे। उसमें लक्ष्मण सिंह को नौकरी मिल गई। सुभद्रा भी उनके साथ जबलपुर आ गईं। सुभद्रा जी सास के अनुशासन में रहकर मात्र सुघड़ गृहिणी बनकर संतुष्ट नहीं थीं। उनके भीतर जो तेज था, काम करने का उत्साह था, कुछ नया करने की जो लगन थी, उसके लिए घर की चारदीवारी की सीमा बहुत छोटी थी। सुभद्रा जी में लिखने की प्रतिभा थी और अब पति के रुप में उन्हें ऐसा व्यक्ति मिला था जिसने उनकी प्रतिभा को पनपने के लिए उचित वातावरण देने का प्रयत्न किया।

दोनों पति-पत्नी मन-प्राण से कांग्रेस का काम करने लगे। सुभद्रा महिलाओं के बीच जाकर स्वाधीनता संग्राम का संदेश पहुँचाने लगीं। वे उन्हें स्वदेशी वस्तुओं को अपनाने, पर्दा छोड़ने, छुआछूत और ऊँच-नीच की संकीर्ण भावनाओं से ऊपर उठने की सलाह देती थीं। स्त्रियाँ सुभद्रा की बातें बड़े ध्यान से सुनती थीं। १९२०-२१ में मध्यवर्ग की बहुओं में प्रगतिशील मूल्यों का संचार करने में सुभद्रा ने बहुत बड़ी भूमिका निभाई।

१९२०-२१ में सुभद्रा और लक्ष्मण सिंह दोनों अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य थे। १९२०-२१ में सुभद्रा और लक्ष्मण सिंह ने नागपुर कांग्रेस में भाग लिया और घर-घर जाकर कांग्रेस का संदेश पहुँचाया। त्याग और सादगी के आवेश में आकर सुभद्रा जी सफ़ेद खादी की बिना किनारी धोती पहनती थीं। गहनों और कपड़ों की बहुत शौकीन होते हुए भी उनके हाथों में न तो चूड़ियाँ थीं और न माथे पर बिंदी। आखिर बापू ने सुभद्रा जी से पूछ ही लिया, "बेन! तुम्हारा ब्याह हो गया है?" सुभद्रा ने कहा, "हाँ!" और फिर उत्साह में आकर बताया कि मेरे पति भी मेरे साथ आए हैं। इस बात को सुनकर बा और बापू जहाँ आश्वस्त हुए वहाँ कुछ नाराज़ भी हुए। बापू ने सुभद्रा को डाँटा, "तुम्हारे माथे पर सिंदूर क्यों नहीं है और तुमने चूड़ियाँ क्यों नहीं पहनीं? जाओ, कल किनारे वाली साड़ी पहनकर आना।"

कुछ न कुछ जादू सुभद्रा जी में अवश्य था और यह जादू ऐसा था जिसका प्रभाव अकेले उनके पति लक्ष्मण सिंह पर नहीं, बल्कि अन्य सब लोगों पर भी पड़ा जो कोई भी उनके संपर्क में आया और वह जादू था सुभद्रा जी के सहज स्नेही मन और निश्छल स्वभाव का। उनका जीवन प्रेम से भरा था और निरंतर निर्मल प्यार लुटाकर भी खाली नहीं होता था।

१९२२ का जबलपुर का झंडा सत्याग्रह देश का पहला सत्याग्रह था और सुभद्रा जी पहली महिला सत्याग्रही थीं। रोज़-रोज़ सभाएँ होती थीं और जिनमें सुभद्रा भी बोलती थीं। टाइम्स ऑफ इंडिया के संवाददाता ने अपनी एक रिपोर्ट में उनका उल्लेख 'लोकल सरोजिनी' कहकर किया था।

सुभद्रा जी में बड़े सहज ढंग से गंभीरता और चंचलता का अद्भुत संयोग था। वे जिस सहजता से देश की पहली स्त्री सत्याग्रही बनकर जेल जा सकती थीं, उसी तरह अपने घर में, बाल-बच्चों में और गृहस्थी के छोटे-मोटे कामों में भी रमी रह सकती थीं।

सुभद्रा जी की जीवन-दृष्टि जीवन को नकारने की नहीं, बल्कि स्वीकारने की थी। उनकी कविताएँ दस-ग्यारह वर्षों से पत्र-पत्रिकाओं में छपती रही थीं। कविता उनके मन की तरंग थी। उनकी कविताएँ मन के भीतर छटपटाते भावों को, सहज-सरल रूप में अभिव्यक्ति देने वाली हैं। उनमें शिल्प का वैसा सौष्ठव नहीं है और न पच्चीकारी का वैसा कोई चमत्कार ही है। अपनी सादगी और सहजता में सुभद्रा जी की कविताएँ लोककाव्य के बहुत निकट की जान पड़ती हैं। उनमें एक देशाभिमानी के साहस, त्याग और बलिदान की भावना है।

प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त' के सहयोग से सुभद्रा का पहला कविता संग्रह मुकुल प्रकाशित हुआ और हिंदी संसार ने दिल खोलकर उसका स्वागत किया।

उस समय हिंदी में आज की तुलना में लेखक कम थे और लेखिकाएँ तो और भी कम थीं। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होकर ही सुभद्रा जी की कविताओं ने पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। विशेषतः 'झाँसी की रानी' तो बहुत ही लोकप्रिय हुई थी। अब 'मुकुल' के रूप में उनका संग्रह प्रकाशित होने पर सब ओर से बहुत-बहुत बधाइयाँ मिलीं।

सुभद्रा जी ने मातृत्व से प्रेरित होकर बहुत सुंदर बाल कविताएँ लिखी हैं। इन कविताओं में भी उनकी राष्ट्रीय भावनाएँ प्रकट हुई हैं। 'सभा का खेल' नामक कविता में, खेल-खेल में राष्ट्र भाव जगाने का प्रयास देखिए -

सभा-सभा का खेल आज हम खेलेंगे, जीजी आओ
मैं गांधी जी, छोटे नेहरु, तुम सरोजिनी बन जाओ।
मेरा तो सब काम लंगोटी गमछे से चल जाएगा
छोटे भी खद्दर का कुर्ता पेटी से ले आएगा।
मोहन, लल्ली पुलिस बनेंगे, हम भाषण करने वाले
वे लाठियाँ चलाने वाले, हम घायल मरने वाले।

इस कविता में बच्चों के खेल, गांधी जी का संदेश, नेहरु जी के मन में गांधी जी के प्रति भक्ति, सरोजिनी नायडू की सांप्रदायिक एकता संबंधी विचारधारा को बड़ी खूबी से व्यक्त किया गया है। असहयोग आंदोलन के वातावरण में पले-बढ़े बच्चों के लिए ऐसे खेल स्वाभाविक थे।

प्रसिद्ध हिंदी कवि गजानन माधव मुक्तिबोध ने सुभद्रा जी के राष्ट्रीय काव्य को हिंदी में बेजोड़ माना है - 'कुछ विशेष अर्थों में सुभद्रा जी का राष्ट्रीय काव्य हिंदी में बेजोड़ है। क्योंकि उन्होंने उस राष्ट्रीय आदर्श को जीवन में समाया हुआ देखा है, उसकी प्रवृत्ति अपने अंतःकरण में पाई है, अतः वह अपने समस्त जीवन-संबंधों को उसी प्रवृत्ति की प्रधानता पर आश्रित कर देती हैं, उन जीवन संबंधों को उस प्रवृत्ति के प्रकाश में चमका देती हैं।... सुभद्राकुमारी चौहान नारी के रूप में ही रहकर साधारण नारियों की आकांक्षाओं और भावों को व्यक्त करती हैं। बहन, माता, पत्नी के साथ-साथ एक सच्ची देश सेविका के भाव उन्होंने व्यक्त किए हैं। उनकी शैली में वही सरलता है, वही अकृत्रिमता और

स्पष्टता है जो उनके जीवन में है। उनमें एक ओर जहाँ नारी-सुलभ गुणों का उत्कर्ष है, वहाँ वह स्वदेश प्रेम और देशाभिमान भी है जो एक क्षत्रिय नारी में होना चाहिए।"

सुभद्रा जी की बेटी सुधा चौहान का विवाह प्रेमचंद के पुत्र अमृतराय से हुआ जो स्वयं अच्छे लेखक थे। सुधा ने उनकी जीवनी लिखी - 'मिला तेज से तेज'।

सुभद्रा जी का जीवन सक्रिय राजनीति में बीता था। वे शहर की सबसे पुरानी कार्यकर्ती थीं। १९३०-३१ और १९४१-४२ में होने वाली जबलपुर की आम सभाओं में स्त्रियाँ बहुत बड़ी संख्या में जमा होती थीं जो हिंदी भाषी क्षेत्रों के लिए एक नया ही अनुभव था। स्त्रियों की इस संख्या के पीछे, स्त्रियों की इस जागृति के पीछे निश्चय ही सुभद्रा जी का हाथ था और उनकी तैयार की हुई टोली के अनवरत उद्योग का भी। सन १९२० से ही वे स्त्रियों की सभाओं में पर्दे के विरोध में, अंधी रूढ़ियों के विरोध में, छुआछूत हटाने के पक्ष में और स्त्री-शिक्षा के प्रचार के लिए बराबर बोलती जा रही थीं। अपनी उन बहनों से बहुत-सी बातों में अलग होते हुए भी वे उन्हीं में से एक थीं। उनके भीतर भारतीय नारी का जो सहज शील और मर्यादा थी, उसके कारण उन्हें वृहत्तर नारी समाज का विश्वास प्राप्त था। विचारों की दृढ़ता के साथ-साथ उनके स्वभाव में और व्यवहार में एक अजीब लचीलापन था, जिसके कारण अपने से भिन्न विचारों और रहन-सहन वालों के दिल में भी उन्होंने घर बना लिया था।

सुभद्रा जी ने कहानी लिखना आरंभ कर दिया था क्योंकि उस समय कोई भी संपादक कविताओं पर पारिश्रमिक नहीं देता था। उनसे संपादकगण गद्य रचना चाहते थे और उसके लिए पारिश्रमिक भी देते थे। समाज की अनीतियों से उत्पन्न जिस पीड़ा को वे व्यक्त करना चाहती थीं उसकी अभिव्यक्ति का उचित माध्यम गद्य ही हो सकता था, अतः सुभद्रा जी ने कहानियाँ लिखीं। उनकी कहानियों में देश-प्रेम के साथ-साथ समाज को, अपने व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित करने के लिए संघर्षरत नारी की पीड़ा और विद्रोह का स्वर मिलता है। साल भर में उन्होंने एक कहानी संग्रह 'बिखरे मोती' ही बना डाला। 'बिखरे मोती' छपवाने के लिए वे इलाहाबाद गईं। इस बार भी सेकसरिया पुरस्कार उन्हें ही मिला - कहानी संग्रह 'बिखरे मोती' पर। उनकी अधिकांश कहानियाँ सत्य घटना पर आधारित हैं। देश-प्रेम के साथ-साथ उनमें गरीबों के प्रति सच्ची सहानुभूति मिलती है।

राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय भागीदारी और अनवरत जेल यात्रा के बावजूद उनके तीन कहानी संग्रह प्रकाशित हुए - 'बिखरे मोती (१९३२), उन्मादिनी (१९३४), सीधे-सादे चित्र (१९४७)। इन कथा संग्रहों में कुल ३८ कहानियाँ (क्रमशः पंद्रह, नौ और चौदह)। सुभद्रा जी की समकालीन स्त्री-कथाकारों की संख्या अधिक नहीं थी।

उनकी कहानियों को किसी भी तराज़ू पर तौल लें, उनमें स्त्री सरोकारों की बात दिखेगी तो वे सामाजिक, राजनीतिक विसंगतियों की कसौटी पर भी खरी उतरेंगी। उनकी कहानियाँ स्वतंत्रता आंदोलन के दौर की नारी का मानसिक पटल प्रस्तुत करती हैं। आज़ादी के पूर्व की भारतीय नारी की दशा और दिशा को सँभालने में वे हमारी बड़ी मदद करती हैं। उनकी नारी केवल राजनीतिक आज़ादी नहीं चाहती बल्कि सभी प्रकार की गुलामी से मुक्ति चाहती है। वह 'स्वतंत्रता' नहीं, 'स्वराज्य' चाहती है। परतंत्रता नहीं, स्वानुशासन चाहती है। रूढ़ियों-बंधनों से मुक्त होकर वह स्वनियंत्रण में रहना चाहती है। सुभद्रा जी की सभी कहानियों को हम एक तरह से सत्याग्रही कहानियाँ कह सकते हैं। उनकी स्त्रियाँ सत्याग्रही स्त्रियाँ हैं। दलित चेतना और स्त्रीवादी विमर्श को उठाने वाली सुभद्राकुमारी चौहान हिंदी की पहली कहानीकार हैं- दिखा गई पथ, सिखा गई हमको जो सीख सिखानी थी।

पंद्रह अगस्त १९४७ को जब देश आज़ाद हुआ तो सबने खुशियाँ मनाईं। सुभद्रा जी ने भेड़ाघाट जाकर वहाँ के खान मज़दूरों को कपड़े और मिठाई बाँटी। उस दिन वे अपना सिरदर्द भूल गई थीं, थकावट भूल गई थीं, आराम करना भूल गई थीं।

गाँधी जी की हत्या से सुभद्रा जी को ऐसा लगा कि जैसे वे सचमुच अनाथ हो गई हों। बगैर कुछ खाए-पिए चार मील पैदल ग्वारीघाट तक गईं। जैसे कोई उनके घर का चला गया हो। सुभद्रा जी ने कहा, "मैंने तो सोचा था कि मैं कुछ दिन गाँधी जी के आश्रम में बिताऊँगी लेकिन परमात्मा को वह भी मंज़ूर नहीं था!"

१२ फरवरी १९४८ को गाँधी जी की अस्थियाँ नर्मदा में विसर्जन करने के लिए लाई गईं। सुभद्रा जी सदलबल गाँधीजी की अस्थियाँ लेने मदनमहल स्टेशन गईं और पुलिस का घेरा तोड़ा।

१४ फरवरी को वे नागपुर में शिक्षा विभाग की मीटिंग में भाग लेने गईं। डॉक्टर ने रेलगाड़ी से नहीं, कार से जाने की सलाह दी। १५ फरवरी १९४८ को दोपहर के समय वे जबलपुर के लिए वापस चलीं। सुभद्रा ने देखा कि बीच रास्ते में तीन-चार मुर्गी के बच्चे हैं। उनका बेटा कार चला रहा था। उन्होंने अचकचाकर बेटे से कहा, "अरे बेटा ! मुर्गों के बच्चों को बचाओ !"

मोटर तेज़ी से काटने के कारण सड़क किनारे के पेड़ से टकरा गई। सुभद्रा जी बेहोश हो गईं। सुभद्रा जी ने बस 'बेटा' कहा और लुढ़क गई। अस्पताल के सिविल सर्जन ने देखकर बताया कि उनका देहांत हो गया है। उनका चेहरा एकदम शांत और निर्विकार था जैसे गहरी नींद सोई हों।

१६ अगस्त १९०४ को जन्मी सुभद्रा कुमारी चौहान का देहांत १५ फरवरी १९४८ को ४४ वर्ष की आयु में ही हो गया। एक संभावनापूर्ण जीवन का अंत हो गया।

उनकी मृत्यु पर दादा माखनलाल चतुर्वेदी ने लिखा कि 'सुभद्रा जी का आज चल बसना प्रकृति के पृष्ठ पर ऐसा लगता है मानो नर्मदा की धारा के बिना तट के पुण्य तीर्थों के सारे घाट अपना अर्थ और उपयोग खो बैठे हों। सुभद्रा जी का जाना ऐसा मालूम होता है मानो 'झाँसी वाली रानी' की गायिका, झाँसी की रानी से कहने गई हो कि लो, फिरंगी खदेड़ दिया गया और मातृभूमि आज़ाद हो गई। सुभद्रा जी का जाना ऐसा लगता है मानो अपने मातृत्व के दुग्ध, स्वर और आँसुओं से उन्होंने अपने नन्हे पुत्र को कठोर उत्तरदायित्व सौंपा हो। प्रभु करे, सुभद्रा जी को अपनी प्रेरणा से हमारे बीच अमर करके रखने का बल इस पीढ़ी में हो।"

जबलपुर के निवासियों ने चंदा इकट्ठा करके नगरपालिका प्रांगण में सुभद्रा जी की आदमकद प्रतिमा लगवाई जिसका अनावरण २७ नवंबर १९४९ को एक और कवयित्री तथा उनकी बचपन की सहेली महादेवी वर्मा ने किया। प्रतिमा अनावरण के समय भदंत आनंद कौसल्यायन, बच्चन जी, डॉ. रामकुमार वर्मा और इलाचंद्र जोशी भी उपस्थित थे। महादेवी जी ने इस अवसर पर कहा, "नदियों का कोई स्मारक नहीं होता। दीपक की लौ को सोने से मढ़ दीजिए पर इससे क्या होगा? हम सुभद्रा के संदेश को दूर-दूर तक फैलाएँ और आचरण में उसके महत्व को मानें - यही असल स्मारक है।"

## दो अक्षर

**डॉ. श्याम सिंह शशि**

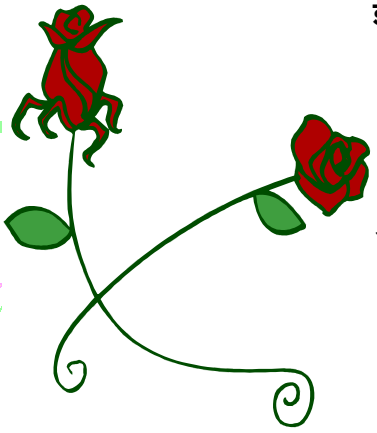

वे दो अक्षर लिखते हैं
तो उम्र भर गाते हैं
हम पोथियाँ लिखते हैं
और एक उम्र दे जाते है.

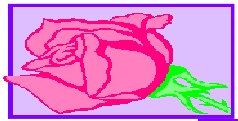

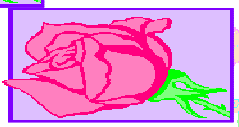

# तुम भी

**राजी सेठ**

रात जब उसकी नींद खुली तो आज फिर वह बिस्तर पर नहीं था। दो क्षण अडोल पड़ी रही। बाथरूम की दिशा में कान दिए....रात खामोश थी....कोई आवाज़ न होने से उसे लगा, दिन होने में देरी है....बीच रात का पहर है....सन्नाटे से भरा। दरवाज़े की साँकल हलकी-सी बजी....खिस्स-खिस्स की ध्वनि। पूर्व ज्ञान न होता तो शायद समझ न पाती कि बोरी घसीटी जाकर दरवाज़े के पीछे रख दी गई है। प्राण जैसे कहीं और बँधे हों, ऐसी सीने के भीतर टँगी जाती साँस, ....चुप पड़ी रही।

वह आया....सुराही से पानी उँड़ेला....गटगट पिया और धीरे, बहुत धीरे खाट पर बैठ गया।

"क्यों करते हो तुम यह पाप?" पत्नी ने उठकर उसकी कलाई पकड़ ली। पर यह उसके अपने हाथ में अपनी ही कलाई थी। पति की कलाई पकड़कर यों कह डालने का साहस उसमें नहीं था....उस क्षण का सामना करने का....पति को लज्जित करने का....बीच चाहे अँधेरे का परदा था....पर अँधेरे में, सन्नाटे में यह सब अधिक साफ दिखता है, साफ सुना जाता है।

सवेरे घर बुहारते वह उस कोने में जाना बचा गई। देर से उठते पति के आलस्य को अनदेखा कर गई....बोरी ढोकर ले जाने का अहसास होने पर भी बाहर टिफिन देने न गई....सवी को भेज दिया....।

अनाज के इस मालगोदाम की रखवाली के ही लिए रखे गए थे वह। लाला ने यही सोचकर यह छोटा-सा दो कोठरियों का चाहे टूटा-सा घर उन्हें बिना भाड़े के दे दिया था, आगे एक छोटा-सा सहन और दालान। क्लर्की से कुछ बनता नहीं था। बीमार माँ, एक बहन, एक भाई और तीन बच्चे....बहन जैसे-तैसे ब्याह गई थी....भाई होशियार था, अपने पाए वज़ीफे से पढ़ रहा था....कभी-कभार आता था और बड़े भाई के कंधे पर एक नपुंसक दिलासा छोड़ जाता था....अभी उसकी तीन साल की पढ़ाई बाकी थी....तब तक सवी सोलह की हो जाएगी और गुल्लू बारह का। गीतू तो अभी छोटी थी एक का ब्याह, दूसरे की पढ़ाई....। इन दो सुलगते सवालों से आँखें भींच लेना चाहते थे वे....जो कुछ जोड़ा, बचाया था, पिछले साल माँ की बीमारी में....'सेरीबरल'....कुछ ऐसी ही टेढ़ी-मेढ़ी बातें कही थीं डॉक्टर ने.... 'पहले बहत्तर घंटे खींच गई तो जी जाएँगी।' ऐंठे हुए अंगों और ऊपर टँगी हुई पुतलियों के बावजूद माँ जी गई थीं। और जीने की डोर रुपयों की थैली के साथ बँधी यथार्थ की चर्खी पर खिंचती सतत। ऊपर-नीचे। बार-बार....अपने मन का चोर वह जानती है। उसे लगा करता है, मरना तो है, एक दिन सबको....हर किसी को....क्या फ़र्क पड़ता है! माँ जी गईं तो पीछे जीवित रहने वाले सबके-सब - वह, अमर, देबू, सवी, गुल्लू, गीतू सब मर जाएँगे....धीरे-धीरे। सिर्फ डॉक्टर खाएगा और गले पड़ी बीमारी....नहीं तो सब खाते....थोड़ा-थोड़ा....साधकर, संभालकर....

छि:! छि:! क्या सोचती रहती है। अमर जान जाएगा तो क्या सोचेगा....? 'ऐसा न्याय घरों में नहीं होता....श्मशानों में, अस्पतालों में होता है, लाशें आधी रात या मुँह-अँधेरे बिकने आती हैं बीस-बीस रुपये में।' देबू बताया करता है, 'साइकिलों पर लंबे-लंबे पैंडें मारकर लाशें लादकर लाते हैं सगे-संबंधियों की। बीस-पच्चीस रुपयों की ख़ातिर....' 'संबंध तो वैसे ही मर गया है डाकदर साब....यह तो मिट्टी है....' 'यह बात संबंध से ज्यादा जानदार होती है क्योंकि रोटी दे सकती है,' देबू यह बात अपनी तरफ से जोड़ देता है।

"बस-बस, देबू....बस कर!" उसने सुनते-सुनते घबराकर कहा था, "आदमी की चेतना क्या इतनी मर जाती है?"

"किस चेतना की बात करती हो भाभी....शास्तर वाली चेतना की?"

"चुप देबू....शास्तर का नाम न ले....पढ़-लिख गया है, तो इसका यह मतलब तो नहीं...."

"एक बार मेरे साथ अस्पताल चलकर देखो भाभी।"

और अस्पताल गए बिना ही वह देख रही है....देख लेती है। अपने को। अपने भीतर पनपते विषाणुओं को। माँ जीवित रहेंगी तो सबके भविष्य का संतुलन डोल जाएगा। देबू की बात इतनी नंगी....इतने पास।

मन की शांति कहीं उड़ गई थी....उठते-बैठते माँ की जगह एक लाश दीखने लग गई थी....उसने एक दिन डरते-डरते अमर से पूछा, "क्या तुम्हें भी लगता है कि...."

"क्या?"

"कुछ नहीं....यही कि पैसे कम होते जा रहे हैं। कितने बचे हैं? तुम तो आज पोस्ट ऑफिस गए थे न?"

एक दीर्घ दृष्टि से उसे भाँपता वह चुप रहा।

"तुमने जवाब नहीं दिया....कितना बचा है अब?"

"तुम्हें हर बात से क्या मतलब?"

"मतलब क्यों नहीं....सब कुछ तुम्हारे अकेले के सिर....क्या मैं जानती नहीं, अब तो तुम भर पेट खाना भी नहीं खाते...."

"ओह! चुप रह सरना....मैं कहता हूँ, तू चुप रह...ऐसी दया से मुझे न तोड़....' वह सहम गई।

"आज क्या देबू आया था?" वह खाना खाकर बिस्तर पर लेटा था।

"आया था....सुनो, तुम्हें उससे डर नहीं लगता?"

"किससे? ....देबू से....?"

"नहीं, अनाज वाले लाला से....तुम्हारी शिकायत कर दे तो?" वह साहस करके कह गई।

वह धीमे परंतु कठोर स्वर में बोला, "नहीं।"

"क्यों नहीं....?"

"वह लोगों को लूटता है, मैं उसको लूटता हूँ।"

"उसका लूटना ग़लत है तो तुम्हारा भी...."

वह उठकर बैठ गई। अमर कुछ न बोला।

"सुनो, तुम्हें भगवान से भी डर नहीं लगता....?"

"तुम जो डर लेती हो....।"

"उससे क्या होता है...."

"होता है....मेरी करनी मेरे पास रहती है। तुम्हारी तुम्हारे पास....बोझ से मरूँगा तो मैं ही....।"

"ऐसा मत कहो...." पति का मुँह अपनी कांपती हथेली से ढँकती हुई वह बोली, "हम-तुम दो हैं क्या....?"

फिर वही अँधेरे को घूरती उसकी अबूझ चुप्पी।

"हाँ, किसी-किसी जगह पर पहुँचकर हम-तुम दो हैं....!"

"कैसे?"

"तुम इसे समझ नहीं सकतीं....। चलो छोड़ो....! माँ की तबीयत अब कैसी है....?"

उसने आँखें फाड़कर पति को देखा, "क्यों, क्या तुम घर में नहीं रहते?"

"मैं? मैं घर में कहाँ रहता हूँ....! कब होता हूँ मैं घर में....? मेरे भीतर तो...." स्वर में एक अबूझ विषाद।

"किस तरह की बातें कर रहे हो तुम....? सुनो, एक बात मानोगे?"

"हूँ....।"

"छह महीने के लिए तुम देबू की पढ़ाई छुड़वा दो....वज़ीफे से कुछ मदद होगी छह महीने बाद भी डॉक्टर बन जाएगा तो क्या फ़र्क पड़ेगा।"

"नहीं सरना....देबू की अपनी ज़िंदगी है, अपनी किस्मत....। उसे अपने लिए दाँव पर नहीं लगाऊँगा।"

"पर उसकी भी तो कोई जिम्मेवारी है।"

"है, पर मेरी भी तो उसके लिए कोई जिम्मेवारी है।"

"तो फिर...फिर मुझे स्वेटर बुनने की एक मशीन दिला दो...इसमें बुरा तो कुछ नहीं...सब घर बैठे-बैठे करते हैं..."

"दिला दूँगा, अभी तो....जानती हो, माँ की बीमारी में सब कुछ हाथ से निकल गया।"

"जानती हूँ," आवाज़ कटार हो आयी।

"उनका इसमें क्या दोष है सरना....? क्या इसके लिए तुम उन्हें माफ नहीं कर सकतीं....?"

सिर से पकड़ी जाकर वह खिसिया गई। फूट पड़ी, "तो फिर मैं क्या करूँ....? क्या करूँ?"

"तुम कुछ मत करो सरना!" एक पीड़ित शैथिल्य से भरा वह सरना को अपने साथ सटाते हुए बोला, "मेरे पास बनी रहो....इसी तरह....हमेशा....सहना आसान हो जाता है," पत्नी की हथेली खींचकर उसने अपनी छाती पर रख ली और अपनी उँगलियों से उसकी खुरदरी उँगलियों के पोरों को छूता रहा।

दूसरे-चौथे दिन उसे साइकिल पर बोरी लादकर ले जाते देख सरना का जी धसक जाता। एक रात पहले पति का गुमसुम खाट पर बैठे होना....आधी रात गए घिस-घिस आवाज़ें....पसीने से लथ-पथ शरीर....श्रांत होकर सुबह उठना....निर्वाक्, इधर से उधर डोलना....अक्सर सब कुछ असह्य लगने लगता। एक दिन डरते-डरते बोली, "किसी दिन तुलवा लिया तो?"

एक लंबी-सी लोहे की छड़ अंदर से खोखली, सिरे से पैनी उसने दरवाज़े के पीछे से निकालकर पत्नी के सामने डाल दी। बिना खोले बोरी के पेट में जिसकी नोक भोंककर नमूने का अनाज जिससे निकालते हैं व्यापारी, वह औज़ार। "थोड़ा-थोड़ा हर बोरी से....इतना अनाज तो चूहे भी खा जाते हैं गोदाम में....।"

"तभी तो पसीने से लथ-पथ हो जाते हो....सुनो, कोई और रास्ता नहीं निकल सकता?"

"क्या चोरी का?" कड़वी-सी भड़ास फेंकता वह बोला।

वह आहत हुई। फिर भी दृढ़ता से बोली, "नहीं, कमाई का....।"

"जिस दिन तुझे दिख जाए, मुझे बता देना....छोड़ दूँगा....। तुम लोगों के लिए ही...." बुदबुदाता हुआ वह बाहर निकल गया। पत्नी अपने ही शब्दों के ताप-संताप में झुलसती रही।

शाम को वह घर आया तो मुँह पर बादल नहीं थे। हाथ में दो बड़े-बड़े कांधारी अनार और संतरों का पैकेट लिये वह सीधा रसोई में घुसता चला आया। गीतू को सामने देख पैकेट नीचे रखे और उसे गोद में उठाकर चूम लिया। गीतू पहले तो भौचक्क....फिर संतरे लेकर नाचने लगी।

गुल्लू बीच में झपटकर बोला, "रहने दे, रहने दे, दादी के लिए हैं....डॉक्टर ने बताए हैं।"

"नहीं, तुम्हारे लिए भी हैं बेटे....दादी के लिए वहाँ रख आया हूँ....लाओ, चाय लाओ...." बूट उतारकर वह खरखरी खाट पर पसर गया।

सरना व्यस्त-सी हो आयी एक अनजानी कृतज्ञता से न जाने उसके मन की कौन-सी कोर भीग आयी....पति को चाय का कप उसने कुरकुरे पापड़ों के साथ पास बैठकर पिलाया।

माँ एक रात अचानक मर गई। देह औंधी ऐंठी हुई। एक टाँग नीचे उतरने की मुद्रा में पाटी से नीचे लटकी हुई....गरदन आधी ऊपर को....आँखें जड़-स्थिर। बिस्तर ऐसी सलवटों से भरा....खूब छटपटाती रही हों जैसे....शायद उन्होंने खाट से उतरना चाहा हो। वह और सरना दोनों धक् से रह गए आवाज़ ही न निकली। न गंगा-जल, न गीता-पाठ, न दीया, न बाती, न कोई पास....बच्चों का झुंड ज़मीन पर बेख़बर सोया हुआ! घबराकर माँ का शव उन्होंने नीचे उतारा और एक अपराधी आकुलता से बच्चों को झकझोर दिया। पास-पड़ोसी जब तक आए....मौत एक यथार्थ बन चुकी थी। अमर का मन अंदर से रह-रहकर छीजता रहा। दाहकर्म....दान, सब उसने समुचित श्रध्दा से किए। माँ पहले भी मात्र उपस्थिति भर थी....पर यह अनुपस्थिति तो? ....क्या था जो पसलियों में सलाख की घोंप की तरह उसे बींधता रहा।

दो ही दिन पहले तो....खाट से लगकर रखे मोढ़े पर बैठे अमर की गोद में माँ ने अपनी शिथिल कलाई डाल दी। वह चौंका, हाथ का अख़बार उसने नीचे रख दिया, "कुछ चाहिए माँ....?"

"नहीं, कुछ नहीं।" बेहद थकी-टूटी, भरी-सी आवाज़।

माँ ने अपना हाथ उसकी गोद से वापस न लिया। एक बोलता हुआ दर्दीला स्पर्श उसे छूता रहा।

"माँ!" बचपन के किसी भूले हुए आवेग का झोंका उससे आ लिपटा, "कुछ कहना चाहती हो माँ?"

"नहीं रे! सोचती हूँ, तेरे कच्चे कंधों पर कितना बोझ पड़ गया और ऊपर से मैं करमजली...." फिर फफक कर रो पड़ी। वह विचलित हो गया।

"किसी ने कुछ कह दिया है तुम्हें माँ?' उसका इशारा पत्नी की ओर था।

"नहीं, नऽऽहीं रे...." रो पाने में भी असमर्थ माँ का स्वर एक घुटी हुई चीख़ की तरह बिखरा।

वह माँ के सिर पर हाथ फेरता रहा। माँ के बाल रस्सियों के से सूखे, खुरदरे हो गए थे....और अब आँसुओं की धाराओं से गीले हो रहे थे।

"माँ! जी छोटा न कर।"

माँ के भीतर कोई फोड़ा फूट गया था। सिसकते हुए बोलीं, "तेरे बाबूजी गए तो लगता था....लगता था, दस घड़ी न जिया जाएगा....अब दस साल से जीती हूँ...."

"माँ, तुम अच्छी हो जाओगी...." एक खोखली-सी सांत्वना उसके मन में उभरी, फिर होठों में ही डूब गई।

"नहीं! नहीं....!" माँ के भीतर उबाल उठा था, "मेरे जीने में क्या धरा है....तू कमा-कमाकर खुट रहा है....एक बात कहूँ बिटवा...."

"हूँऽ।"

"मेरी मिट्टी तो वैसे ही उठेगी....तू क्यों मेरे कारण बच्चों के मुँह से ग्रास छीने है....?"

"तुम्हें क्या हो गया है माँ?"

माँ फिर फूट पड़ीं, "सच कहूँ बिटवा, मेरा तो दवा-दारू, डॉक्टर, सेवा सब होता है....और तू रात-रातभर इस मोढ़े पर निढाल पड़ा रहता है। मैं, क्या अंधी हूँ? ....तू मेरी बात मान, कुछ दिनों के लिए देबू की पढ़ाई छुड़ा दे।"

"देबू अपने उद्यम से पढ़ता है, माँ!"

"उसका उद्यम तेरे किस काम....?"

"तू चिंता न कर माँ!" एक गहरी साँस उसने भीतर ही रोक ली। ऐसी सहानुभूति से खखोलकर माँ उसे अपने ही सामने नंगा कर देती है। कितना दारुण होता है यह, माँ अगर जानती....तीसरे ही दिन माँ का यूं मर जाना....इन सब बातों की स्मृति उसे ख़ूब खली। माँ के बक्से से निकलीं बाबूजी की कुछ बहुत पुरानी चिट्ठियाँ....बाबूजी के साथ का एक मटमैला मुड़ा-तुड़ा फोटो....थोड़े-से कपड़े....एक शॉल....दो अँगूठियाँ....दो जोड़े चाँदी के बिछुए और सत्ताईस रुपये तीस पैसे....रुपयों को हथेली पर रखे देखता रहा वह माँ की जन्म-भर की पूँजी....।

बच्चे और सरना। दत्तचित्त पिछले कमरे में जन्माष्टमी की झाँकी सजाने में लगे थे। पीछे का अँगड़-खंगड़ सरना ने अपनी पुरानी रेशमी साड़ी से ढँक दिया। पास-पड़ोस से खिलौने और रंग-बिरंगी तस्वीरें माँग ही ली थीं, तो दो-तीन पड़ोसिनों को आरती के लिए न्यौत भी आयी। न्यौत आने पर प्रसाद बनाने का अतिरिक्त उत्साह भी उसमें आ गया। केले, अमरूद मँगाते गुल्लू को वापस टेरकर बोली, "दो-एक सेब और एक पाव भर अंगूर भी लेते आना। भगवान का काम है।" गद्गद सरना अंदर-बाहर जाते कहती। गुल्लू चला गया तो उसे कलाकंद की याद आयी.... " यह सोच मरी रह-रहकर आती है....बच्चा बेचारा....? शायद अभी दूर न गया हो....," वह दौड़ी-दौड़ी बाहर आयी। गुल्लू तो निकल गया था, पर पति दहलीज पर बैठा बीड़ी फूँक रहा था चेहरा घिरा हुआ, भवें घनी होती हुईं। "छिः-छिः...त्योहार के दिन तो रहने दो....वैसेई उपास का दिन है....यहाँ कैसे बैठे हो? अंदर चलो, देखो बच्चे कैसे...."

"नहीं, अभी बाहर जाना है," वह बात काट देने की नीयत से बोला।

"वहाँ?" फिर बिना जवाब सुने बोली, "पहले कहा होता। नाहक़ गुल्लू को दौड़ाया। तुम्हीं सब चीज़ें लेते आते।" वह कुछ न बोला। ढलती शाम को वैसे ही निर्विकार भाव से देखते हुए आधी पी हुई बीड़ी को एक कोने में फेंक दिया।

"कहाँ जाओगे, इस वक्त?"

"बनिये के यहाँ....सुबह उसकी स्टॉक चेकिंग हो रही थी, बोला शाम को आना।"

"कल चले जाना," फिर कुछ सोचकर स्वयं ही बोली, "नहीं, अभी दे आओ....। न हो, एक गिलास दूध पी लो....आरती-प्रसाद में तो आज देर लगेगी?'

"नहीं।"

वह इतने छोटे में उत्तर देता है कि बात को आगे जाते-जाते लौट आना पड़ता है। "तबीयत तो ठीक है न?" वह उसका माथा छूती बोली।

"हाँ...बिलकुल," पत्नी के हाथ की करुणा उसने हौले से परे सरका दी।

पूजन पूरा हुआ। आरोपित प्रसव और कृष्ण-जन्म उपलब्धि के तन्मय उल्लास में बही जाती पत्नी ने अचानक थाली में पैसे डालने को तत्पर उसके हाथ अधबीच थाम लिये। थाली में पड़ते-पड़ते पैसे उसके हाथ में ही थमे रह गए। वह मुँह-बाए देखता रहा। पड़ोसिनें भौचक्क, बच्चे विस्मित। अपने में लौटते हुए सरना ने फौरन सहज होते हुए कहा, "सवी, जा...जा मेरा बटुआ उठा ला, छोटी संदूकची में धरा है।"

आरती में फिर अमर का ध्यान न लगा। बार-बार पिछड़ता जाता अपना ही स्वर, घर के स्वामी की-सी बुलंद तन्मयता से शून्य। बच्चों और औरतों की छोटी-सी भीड़ में से खिंचता-खिंचता वह एकदम पीछे सरक लिया। पत्नी प्रसाद बाँटते इधर-उधर नज़रें दौड़ाती उसे ढूँढती रही। उसने चाहा कि वह प्रसाद पहले पति को देती। पर वह वहाँ नहीं था। सहन में तुलसी के झाड़ के नीचे के सूखे पत्ते बटोर रहा था।

"मन बुरा न करो। ....यह सब भी तो तुम्हारा लाया हुआ है....पूजा में वह पैसे खर्च करना ठीक नहीं था....भगवान का काम है....।"

"माँ के मरने पर इतना खर्च हुआ, तब तो तू कुछ नहीं बोली," एक रूठा हुआ उपालंभ आवाज़ में था।

"कैसी बातें करते हो?" वह तनिक आहत होकर बोली, 'वह मौत का काम था। माँ से कभी दो हाथ करते देखा है क्या तुमने मुझे?"

"मैंने कब कहा?" पत्नी के स्वर की शिकायत पहचान कर वह नरम होता हुआ बोला।

"तुम इतने सुस्त क्यों हो गए? तुम ही बताओ, मैंने ग़लत कहा है?"

"ग़लत-सही मुझसे न पूछ सरना! ....यह समझना मेरे बस का नहीं। मैं सब लाकर तुम्हें दे देता हूँ। तू जाने, तेरा भगवान जाने।"

"भगवान तुम्हारा नहीं है क्या?" पत्नी ने न जाने कैसे भय से आँखें फाड़कर पूछा।

"मुझे पता नहीं...." बुदबुदाता-सा वह बाहर निकल गया।

औरतें देर तक अंदर शोर करती रहीं।

माँ की बरसी उसने कई ब्राह्मणों को न्यौत कर की। ऐसा करते पिता के नाम के श्राद्धों की याद करके हुमका भी। अब तक दफ्तर में ही काम करते लीचड़ जोशीजी की पालथी के नीचे पिता के श्राद्ध की चौकड़ी बनी रही। वह भी माँ के जीते-जी। यह अशुचिता उसे तब भी अखरती थी और नये-पुराने दु:खों की अनंत पोटलियों के बीच आ धरती थी। ऐसा रोग....पिता को अस्पताल भरती करा पाया होता तो....। डॉक्टर ने तो कहा था, "ऑपरेशन उन्हें ज़िंदा रखने के लिए है, मारने के लिए नहीं।" पर मरना-जीना भाग्य की बात है....भाग्य और कर्म का हिसाब किस जगह पर तय होता है, वह समझ नहीं पाता....। जी बहुत दु:ख जाता है तो फैसला भाग्य के पक्ष में कर लेता है। कई और ब्राह्मणों को आया देख जोशीजी कसमसाए, परंतु अमर ने उनके प्रति उदारता ही बरती, "आप तो घर के ही ठहरे," कहकर उन्हें भी संतुष्ट किया। मौत के उत्सव में व्यस्तता से इधर-से-उधर डोलती सरना अपनी ही आँखों में बड़ी होती रही।

अब अक्सर अमरौती खाकर उतरी नायलॉन की साड़ी को वह अलगनी पर टाँगकर फूल-छपी कड़क कलफदार धोती पहने अपने पर मुग्ध होती बार-बार पति की तरफ देखती। वह ठगा-सा उसे देखता रहता। जाने कैसी

अबूझ-सी छाया उसके चेहरे से गुज़रती आसपास की वस्तुओं पर जाले की तरह जा लिपटती। ठंडे-से स्वर में पूछता, "यह कब लाई हो?" "शंकर-बाज़ार में सेल लगी है न!" वह पुलकती-सी पास दुबककर कहती, "सुनो सवी के लिए भी मैंने धीरे-धीरे चीज़ें जमा करना शुरू कर दी हैं। ब्याह के समय चार चीज़ें घर से निकल आएँगी तो तुम्हारा हाथ भी...."

"तुम तो कहती थीं, प्राणनाथ जी के यहाँ शादी करेंगे तो कुछ ख़ास देना नहीं पड़ेगा?"

"वह तो ठीक है। सामने वाला तो कहता ही है....पर अपना भी तो कुछ फर्ज बनता है...."

"फर्ज़ छोड़ो, सरना! ....किसका किसके लिए फर्ज़ बनता है, और क्यों, यह मेरी समझ में नहीं आता।"

"नयी-नयी-सी बातें करते हो तुम तो...."

"हाँ, करता हूँ! प्राणनाथ जी की हैसियत को हमारी चार चीज़ों की क्या परवाह पड़ी है?"

"लड़की का रूप-गुण देखकर ले रहे हैं तो इसका यह मतलब तो नहीं....आखिर तुम भी बाप हो...."

"तुम खुद ही केंचुली से निकलना नहीं चाहतीं....और मुझे भी...." अपना वाक्य हवा में टाँगकर वह बाहर निकल गया और चहलकदमी करने लगा।

कूड़ा फेंकने वह बाहर आई तो चौंकी, "अरे, मैं तो समझी थी तुम जगदीप के यहाँ गए हो....चलो, खा लो।" हाथ धोकर थाली पर बैठा तो पत्नी ने पीतल का बड़ा कटोरा आगे सरकाते हुए कहा, "साग चाहे रहने दो....यह खा लो।"

"क्या है यह?"

"थोड़ी खीर बना ली थी।"

खीर की मात्रा देखकर वह चौंका, "बच्चों को नहीं दी?"

"बच्चे तो ख़ूब छक चुके....हम दोनों रह गए हैं।"

वह थाली को आगे सरकाता हुआ बोला, "तो फिर तुम भी खा लो साथ ही।"

इस आमंत्रण पर वह भीतर से भीग आयी। उमगती-सी मुँह देखती रही पर वह निर्वाक् खाता रहा। फिर सोचते हुए बोला, "आज बच्चों में से किसी का जन्मदिन तो नहीं....तभी तुम खीर बनाती हो।"

वह खिलखिलाकर हँस पड़ी, "इस महीने में कौन जन्मा था अपने घर....? तुम तो बस...."

न साग अमर ने पीछे सरकाया, न खीर जमकर खायी, "रख दे, सुबह बच्चे खा लेंगे।"

"तुम भी अजीब हो, कुछ अपनी सेहत का...."

"कौन-सी सेहत?" वह ऐसे कड़वे काठिन्य से बोला कि सरना को मुँह उठाकर देखना पड़ा।

"सेहत भी दो-चार होती हैं क्या? तुम भी जाने कैसे...."

"अच्छा, बस-बस!" वह अपने बिस्तर में दुबक लिया। पत्नी सोने आई तो जैसे टोहती रही....छाती पर हाथ रखकर। अँधेरे को अपलक घूरता वह निश्चल पड़ा रहा।

प्रो. प्राणनाथ आज फिर आए थे। वही आते हैं। जबकि जाना अमर को चाहिए। उनका आना सरना के पैरों में पंख लगा देता है। अमर के पास सवी को लेकर छोटा-सा गर्व भी नहीं था उसका रूप जो जन्मजात था और हाई स्कूल में बोर्ड में प्रथम स्थान, उसके अपने परिश्रम का फल। उसका तो बस....उसकी तो बस वह बेटी थी। इसीलिए वह पत्नी के उत्साह में इतना भाग नहीं ले पाता था। सवी पर बरसते उनके वात्सल्य को अविश्वास से देखता रह जाता था।

गुल्लू का मिडिल इन गर्मियों तक....सवी की शादी इन सर्दियों तक। इस साल तो देबू भी तैयार हो जाएगा....तो बस! शेव करते शीशे के सामने खड़े अमर को अपने चेहरे के पीछे न जाने कितनी लहरियाँ काँपती नज़र आयीं। लहरों की उस बावड़ी में वह अपने भविष्य का चेहरा टटोलता खड़ा रहा। खड़ा रहता यदि धोती के सिरे से हाथ पोंछती पत्नी उसे न चौंकाती, "सुनो, सवी के लिए एक कंठी बनवाना है।"

"क्या?" आश्चर्य के रास्ते धरती पर लौटता वह बोला।

"हाँ! हाँ! कंठी....। तुम्हें तो मालूम है, सवी की कब की साध है। माँजी कब से सवी के लिए रखे थीं....बिक गईं....! खैर, छोड़ो पिछली बातों को...."

"प्राणनाथ जी को इन बातों में विश्वास नहीं, रोज़ इतनी बातें कहते रहते हैं, सुनती नहीं हो?"

"उनके कहने से क्या होता है?"

"होता क्यों नहीं, एकदम दूसरे ख्यालों के हैं....नहीं तो लड़के वाले होकर रोज-रोज़ यों चले आते....?"

"वह तो देखती हूँ....लड़की की ऐसी ममता करते हैं....छोड़ो, बातों में न उलझाओ....तुम कहो तो मैं आज सुनार के पास जाऊँ?"

"नहीं," वह अलिप्त-सा चेहरे पर साबुन घिसने लगा।

"क्यों?" एक उद्दंड-सा क्षोभ पत्नी की आवाज़ में भी तिर आया।

"क्योंकि उसे कंठी देने का मेरा कोई इरादा नहीं है। कम-से-कम दो तोले की बनेगी....और सोने का भाव मालूम है?"

"मालूम है....। पर कब से साध लिये है छोरी....।"

"इतनी और साधें पूरी हो रही हैं....यह सोचकर सबर करो। एक इसी साध को लेकर मरने की क्या ज़रूरत है? कभी सोचा था तुमने या उसने कि ऐसे घर जाएगी?"

"उसकी किस्मत! उसकी सज़ा तुम उसे क्यों दे रहे हो?"

"सज़ा किसी को नहीं मिलती....सिर्फ मुझे मिलती है....और सब तो...." बाकी का वाक्य वह अंदर घुड़क गया, खीजता हुआ बोला, "जाओ, मुझे शेव करने दो...देर हो रही है।"

"तुम असल में इस वक्त जल्दी में हो," कहती हुई वह रसोई में लौट गई, उद्विग्न उतावली में वह तैयार होकर दफ्तर चला गया।

शाम को जब लौटा तो नहीं जानता था कि वह प्रसंग अभी उनके बीच जीवित है। पत्नी ने यह कहकर कि इस समय तुम्हें जल्दी है, लगाम अपने हाथ में रख ली थी। बात शुरू होते-होते ही प्रोफेसर प्राणनाथ आ गए, और उनके साथ ही घर की हवा एक ताज़ा सुगंध से भर गई। इतनी सहज आत्मीयता से वह यहाँ बैठते-उठते कि उनके जाते-जाते तक तो घर का वातावरण हलका और तरल हो उठता।

पति को उसने हलका सहज देखा तो कलाई थामकर बोली, "क्या इतनी-सी बात भी नहीं रखोगे?"

उसे उसी क्षण जैसे ताप चढ़ आया। झिड़ककर बोला, "बेवकूफी मत करो....कभी तुम अपने लिए कहतीं तो बात भी थी....हिरस समझ सकता हूँ....सवी को क्या कमी है? एक ही एक लड़का है उनका....ज़मीन-जायदाद है....ऐसे भले विचार हैं....। आगे भी तो देखना है मुझे....पता नहीं, किस-किससे पाला पड़े....दुनिया में सब प्रोफेसर प्राणनाथ ही तो नहीं होते...."

"क्या हुआ....गीतू की शादी तक तो देबू भी डॉक्टर हो जाएगा।"

"डॉक्टर क्यों कहती हो, कहो कुबेर हो जाएगा। इतना भरोसा मैंने किया है किसी का आज तक....?"

"तुमने नहीं किया तो क्या, उसका भी खून इतना सफेद तो नहीं होगा।"

"मैं कर ही क्या रहा हूँ उसका, जो आशा करूं? वज़ीफा लेता है, ट्यूशन करता है, हम लोगों पर तो दो रोटी की मोहताजी भी नहीं रखी है उसने...."

"वह न करे, पर तुम अपनी लड़की के लिए ऐसे पत्थर दिल क्यों हो गए हो....?" चोट करने के तेवर में आ गई थी पत्नी।

"सरना....चुप रहो....मुझे तैश न दिलाओ...." पास रखी काठ की कुर्सी पर बैठ गया वह आक्रामक क्रोध में तपता।

"ऐसी बड़ी बात नहीं कह दी है मैंने कि तुम इस तरह गुस्साओ....आखिर लड़की...."

"ओह! सरना, तुम इतना तो सोचो! मैं कहाँ से करूं....कैसे करूं....तुम क्या नहीं जानतीं....?"

"इतना करते हो, तो दो-चार बोरियां और...."

सरना की आवाज़ की निरुद्वेग ठंडक और आग के तीरों से उसका पोर-पोर बिंध गया। जाने कैसी तेज़ी से वह उठा। फौलादी पंजों से पत्नी के कंधे झिंझोड़कर उसे खाट पर धक्का देकर थरथराता हुआ बोला, "तू....तू....तू भी....मर गई है मेरे साथ। तेरे पुन्न को देखकर जीता आया था मैं अब तक....मेरा अपना ही बोझ क्या कम था मेरे लिए....?"

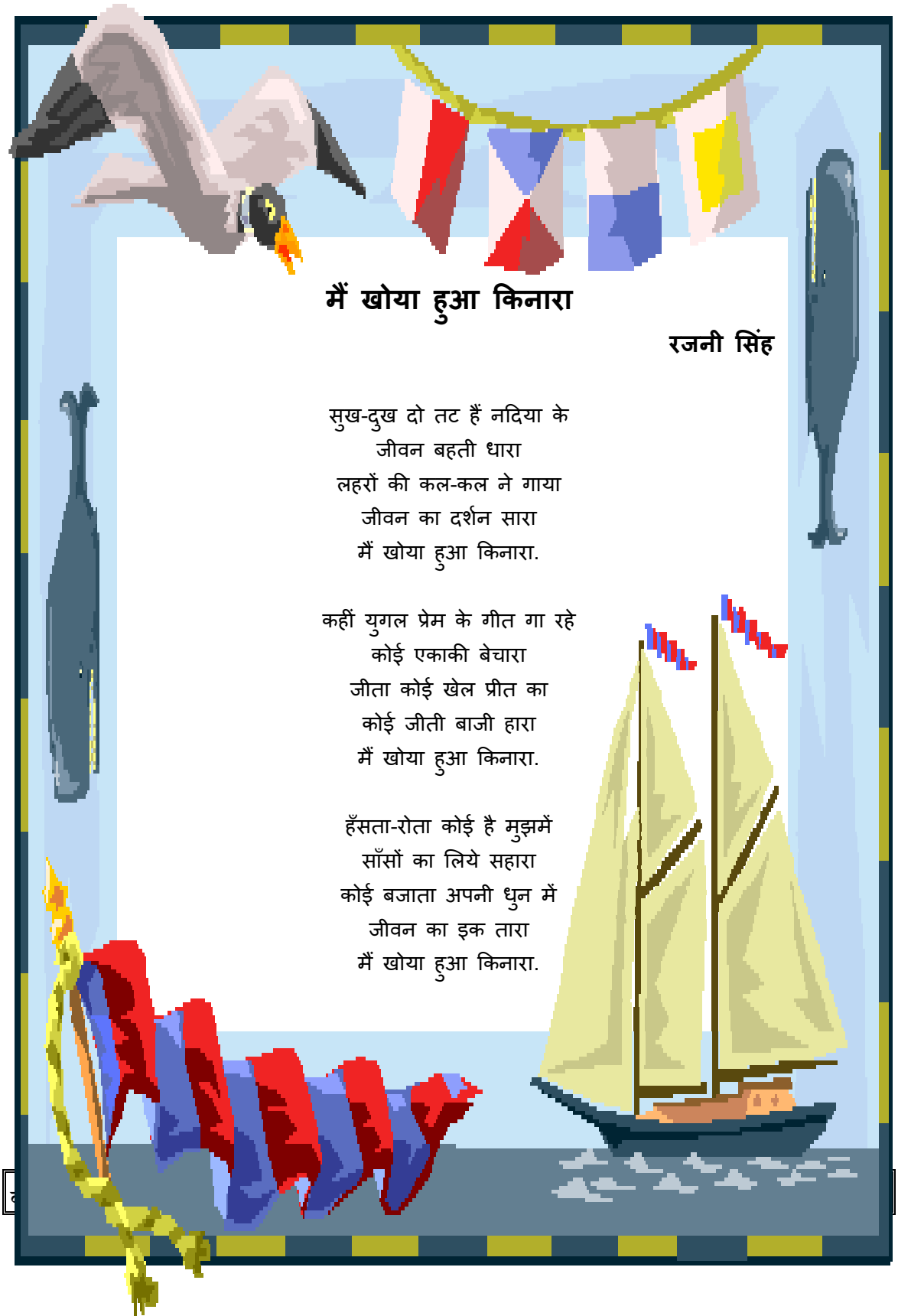

## मैं खोया हुआ किनारा

**रजनी सिंह**

सुख-दुख दो तट हैं नदिया के
जीवन बहती धारा
लहरों की कल-कल ने गाया
जीवन का दर्शन सारा
मैं खोया हुआ किनारा.

कहीं युगल प्रेम के गीत गा रहे
कोई एकाकी बेचारा
जीता कोई खेल प्रीत का
कोई जीती बाजी हारा
मैं खोया हुआ किनारा.

हँसता-रोता कोई है मुझमें
साँसों का लिये सहारा
कोई बजाता अपनी धुन में
जीवन का इक तारा
मैं खोया हुआ किनारा.

# हिन्दी मानसिकता का निर्माण

## आशा आने वाली पीढ़ी से

**डॉ. विद्यानिवास मिश्र**

मैं जब १९४५-४६ से हिंदी का स्मरण करता हूँ कि इसके साथ जुलूस में पीछे मैं भी रहा हूँ तो मुझे दो चीजें बड़ी साफ़ दिखाई देती हैं। हिंदी भाषा एक ऐसी भाषा है, जिसके ऊपर दबाव पड़ता है, उसमें उछाल आता है, दबाव नहीं पड़ता, तो यह भाषा सो जाती है। सदियों तक इस पर दबाव था। यह राजभाषा नहीं थी। थोड़ी सी रियासतों में कुछ कार्यवाही हिंदी में होती थी, लेकिन जो भी कार्यवाही हिंदी में होती थी, उसकी प्रामाणिकता के बारे में मध्य युग के साहित्यकारों ने पहले जितनी भी अभिव्यक्तियाँ की हैं, आज उसका महत्व हम समझते हैं ख़ास करके अपने देश की म.प्र. की रियासतों में, राजस्थान की रियासतों में हिंदी में जो दस्तावेज़ मिले, उनकी कीमत आज आँकी जा रही है। उनमें कुछ अधिक सही बात है, सही परिप्रेक्ष्य है। जनता की कुछ दूसरी तस्वीर है। तो भी एक शासन की भाषा दूसरी थी और यह दूसरी भाषा थी। उसके पीछे भी कारण एक विचित्र प्रकार का मनोभाव था।

आज लगभग ५०० वर्षों से जो विशेष रूप से हिंदी के क्षेत्र का 'ग्राम स्वराज सपना' जैसा दिखता है, उसके पीछे कारण क्या था? उसके पीछे कारण था टोडरमल के द्वारा एक ऐसी माल व्यवस्था का निर्माण जो केंद्रीकृत व्यवस्था थी। केंद्रीकृत व्यवस्था होने के नाते ही यह फारसी-केंद्रित व्यवस्था थी और इसके कारण शासक और शासित की दूरी थी, जनता को किसी माध्यम को चुनना पड़ता था, जिसके माध्यम से वह शासक के पास पहुँच सकता था। सीधा संवाद समाप्त करने के लिए और एक तंत्रीय शासन व्यवस्था के लिए यह उपाय किया गया। नौकरशाही का यह स्तर पहले नहीं था। इसका प्रमाण आज भी गोवा में मिलता है। गोवा में आज भी एक संस्था है कम्युनिताद। उसका अर्थ है गाँव समुदाय। आज भी उसका महत्व है, क्योंकि वहाँ यह टोडरशाही नहीं पहुँची थी लेकिन जहाँ यह पहुँची थी, वहाँ केंद्रीय माल व्यवस्था थी और गाँव तक केंद्र पहुँचा हुआ था। उसके बावजूद हिंदी ऐसी ऊर्जस्विता के साथ रही कि हिंदी के अधिकांश साहित्य ने नकार दिया कि कोई और सत्ता है।

तुलसीदास के रामचरित मानस में, गीतावली में, कवितावली में, विनयपत्रिका में कहीं तत्कालीन बादशाह का नाम तक नहीं है। इससे बड़ी उपेक्षा, इससे बड़ा नकार कुछ हो नहीं सकता। जैसे तुलसीदास जी कहना चाहते थे कि इस राज सत्ता से बहुत बड़ी राज सत्ता है, जिसके रहते अपने को स्वतंत्र अनुभव करते हैं। उसी की राज सत्ता के अनुकूल अपेक्षा करते हैं। इस प्रकार की ऊर्जा उस युग में उसके बाद भी थी, जिसे हम सामंत युग कहते हैं, उसे हम रीतिकालीन युग कहते हैं। उसके कवियों में भी ऐसी ऊर्जस्विता थी। पद्माकर की कविता में भी संकेत हैं, फिरंगियों के आने के ख़तरे। वहाँ से संकेत शुरू हो जाता है, बहुत पहले संकेत शुरू हो जाता है।

१९०१ में हिंदी में जो प्रथम कविता लिखी गई वह एशिया के जागरण की कविता है। शायद एशिया में तब किसी भाषा में एशिया के जागरण की कविता नहीं लिखी गई होगी, १९०१ में लिखी गई कविता राधाकृष्ण मित्र ने लिखी थी। इसका अर्थ यही है कि जितना भी दबाव था, उतनी अधिक ऊर्जस्विता भी थी। लेकिन जब दबाव कम पड़ जाता है, तब मूल्य होता। एक फ्रांस की कहानी मैंने पढ़ी थी कि जब जर्मन कब्ज़ा कर रहे थे तो कब्ज़ा करने के दो दिन पहले जिस क्षेत्र में आ रहे थे उस क्षेत्र की पाठशाला में फ्रेंच का शिक्षक फ्रेंच पढ़ा रहा था तो लड़के अपनी भाषा में जल्दी पढ़ते नहीं, बड़ी लापरवाही से पढ़ते हैं, अरे यह तो हमें आती ही है, बोलते ही हैं, तो अध्यापक ने विद्यार्थियों से कहा कि बच्चों,

परसों से फ्रेंच नहीं पढ़ाई जाएगी। आज पढ़ लो और उसने जब पाठ पढ़ाया तो बड़े मन से बच्चों ने पाठ पढ़ा, उनको फ्रेंच में रस आया और इसके बाद सब लड़के रोने लगे।

अभी छिनी नहीं है हिंदी। छीनने के सारे उपक्रम हो रहे हैं, सारे जाल फेंके जा रहे हैं, सारी कोशिश हो रही है कि अंग्रेज़ी के बिना पीने को पानी नहीं मिलेगा। सब गुलाम हो गए हैं, तुम भी गुलाम हो जाओ या तुममें गुलाम बनाने की क्षमता हो तो गुलाम बना लो। बड़ी से बड़ी सत्ता जब खाने चलेगी, तो भीतर से इतनी खोखली हो जाएगी, जैसा कि अमेरिका आर्थिक दृष्टि से खोखला हो रहा है, स्वास्थ्य की दृष्टि से खोखला हो रहा है, मानसिक दृष्टि से एकदम विशृंखलित हो रहा है। वह क्या खाएगा, कागज़ी नोटों का भूत चढ़ा है वह स्वयं कभी नहीं खा सकता। जिसमें थोड़ी सी भी ऊर्जा बची हुई है, खड़े होने की, तनकर खड़े होने की, इन्कार करने की, अस्वीकार करने की, वे ऐसा प्रतिरोध करेंगे, ऐसा प्रतिरोध करेंगे कि एक दूसरी सृष्टि जन्म लेगी।

वैश्वीकरण का एक दूसरा रूप आएगा जो एक-दूसरे पर आश्रित होने वाला रूप रहेगा। एक-दूसरे को खाने वाला रूप नहीं रहेगा। ऐसी स्थितियाँ जब आती हैं तो आपस में ही उसमें टकराहट होती है और उस भय का समाधान हो जाता है। इस प्रकार की स्थिति विश्व में होगी, लेकिन उसके लिए एक तैयारी तो कहीं-न-कहीं होनी चाहिए। किसी न किसी रूप में छोटे पैमाने पर निरंतर होती तो रहनी चाहिए। मेरे स्व. मित्र लोहिया जी कहा करते थे कि मैं यह सोच रहा हूँ कि जिस दिन इमारत उठाने का हौसला हो, तब ईंट तो कम से कम मिल सके। आज हमको, कम से कम ईंट रख देनी है।

हमारी पीढ़ी के लोगों ने बहुत गलतियाँ की हैं, एक के बाद एक गलतियाँ की हैं और भाषा के प्रश्न पर, राष्ट्रीयता के प्रश्न पर सबसे ज़्यादा गलती की है। हमारी पीढ़ी ने राष्ट्र के लिए संघर्ष किया और राष्ट्र का कोई आकार खड़ा नहीं किया, कोई मूर्त संकल्पना नहीं थी हमारे पास। हमें उधार लिए हुए वादे स्वीकार करने पड़े। अगर हमारी संकल्पना होती, अगर हमारे भीतर ऊर्जा होती तो स्वराज्य की जो गीता गाँधी जी ने तैयार कर रखी थी, उस पर बहस करते, उसमें संशोधन करते और अपने देश की परिस्थिति के अनुरूप, अपने और अपने देश की आकांक्षाओं के अनुरूप कोई दस्तावेज़ बनाते और कहते कि इस हिसाब से शासन चलेगा तो हमें निश्चित ही यह दिन देखने को नहीं मिलता, यह झेलना नहीं पड़ता। लेकिन हमारी गलती थी कि हम स्वाधीनता चाहते थे, उसके लिए लड़े। सबको किनारे रखकर। तिलक के शब्दों में - 'स्वतंत्रता सर्वोपरि थी', महत्त्वपूर्ण थी, लेकिन स्वराज्य का आकार भी महत्त्वपूर्ण था, इसे हमने नहीं सोचा।

उसकी रचना हमने नहीं की। अगर की होती तो भाषा सबसे ऊपर थी, भाषा के प्रश्न पर जो संघर्ष हुए वे बड़े छोटे संघर्ष हुए। असली संघर्ष था अँग्रेज़ों जाओ, हम आपस में निपट लेंगे। "आपस में कटेंगे, मरेंगे जो कुछ भी करेंगे पर हम निपट लेंगे आपस में" यह भी कहने का साहस हममें नहीं हुआ कि 'अंग्रेजी इस देश से जाए हम आपस में निपट लेंगे।' तो मामला निपट गया होता, क्योंकि एक संकल्प रहता।

अब आने वाली पीढ़ी यह भूल नहीं दुहराएगी। स्वाधीन राष्ट्र का कोई सक्रिय रूप उन्हें सोचना होगा, इस देश को जोड़ने वाली जो भी विचार धारा है उस की वाहिका जो भी भाषाएँ हैं, उनके बीच क्या संबंध स्थापित हो, उस पर विचार करना होगा। अब तक जो भी विचार आए हैं वे विचार सबके सब धुँधले विचार हैं, अस्पष्ट विचार हैं। स्पष्ट रूप से विचार हुआ नहीं, क्योंकि ऐसी आवश्यकता, ऐसी चुनौती, ऐसा भय उपस्थित नहीं हुआ। भय में सबसे अधिक चेतना जाग्रत होती है, आशंका में ही सारी शक्तियाँ एकाग्र हो जाती हैं। आज हमें शक्तियों को एकाग्र करने इन प्रश्नों पर विचार करना चाहिए। यह केवल गुलाम मानसिकता नहीं है। यह एकदम अज्ञान की मानसिकता है। शिष्टता के प्रति अज्ञान की मानसिकता है,

अपने समूचे इतिहास, अपनी समूची जाति, व्यक्तित्व के अज्ञान की मानसिकता है। मगर हम जानते हैं कि हमारा जातीय व्यक्तित्व क्या है? उसमें कितनी चीज़ जुड़ी हुई है, उसमें कितनी झेलने की क्षमता है, कितनी ऊर्जा है? झेल करके भी ऊँचा मान रखने की क्षमता है, तो यह मानसिकता नहीं होती।

मैं इससे सहमत नहीं हूँ कि साहित्य की भाषा अलग है, बोलचाल की भाषा अलग है, राजभाषा अलग है। भाषा की कोठरियाँ नहीं होती, दिमाग की कोठरियाँ नहीं होती कि सब एक दूसरे से जुड़ी हुई होती हैं। द्वार नहीं होता, सब एक ही हैं, क्षेत्र उनका अलग होता है, प्रकार अलग होता है, लेकिन सब एक है। यह असंभव है कि बोलचाल की भाषा से साहित्य की भाषा इतनी दूर चली जाए, यह असंभव है कि बोलचाल की, राजकाज की भाषा दूर नहीं होती है, यह अलग कभी नहीं होती, अलग करने का सोचना भी नहीं चाहिए।

तकनीकी भाषा को भी सरल होना है। भाषा का एक सहज प्रवाह है। उस प्रवाह को समझने के लिए इन सबके भीतर जो शक्ति होती है, समझना चाहिए और जब यह सोचते हैं, तो हमारा दिमाग वैसे ही स्वतंत्र हो जाता है। हर जगह हम गलत हैं और सही होने के लिए एक ऐसी व्यापकता हमारे मन में होनी चाहिए और एक संपूर्ण इतिहास के साथ ऐसा जुड़ाव होना चाहिए। केवल गौरव का इतिहास ही हमारा इतिहास नहीं है। लोग यह मानते हैं कि ह्रास का युग आ गया है। १०वीं शताब्दी के लोग नहीं समझते थे कि १०वीं शताब्दी के बाद एक बौद्धिक ऊर्जा के विकास का समय आएगा। निरंतर ऊर्जा का विकास हुआ है। एक भावात्मक ऊर्जा के विकास का समय आया। इतना बड़ा महान, भक्ति-साहित्य उसी समय रचा गया।

यह सारा हमारा हिस्सा है, हमारे व्यक्तित्व का हिस्सा है। एक सोने की चिड़िया वाला ही हमारा भारत नहीं है, संपूर्ण भारत हमारा है। ऐसा उत्साह जो देशों का निर्माण कर दे, वह उत्साह भी हमारा अंग है और उसके साथ जुड़ करके आने वाले भविष्य का पूरा नज़ारा है विश्व का, उसको देखते हुए हम जो कोई संकल्प लेंगे तो ये जो प्रश्न है राष्ट्रभाषा का प्रश्न है कि क्यों हमारे भीतर एक गलत किस्म की मानसिकता आई, यह प्रश्न बहुत छोटे हो जाएँगे और उनका समाधान बहुत ही सरल हो जाएगा।

## हिन्दी इस देश की गंगा है

**डॉ. अम्बाशंकर नागर**

इसमें शिखरों की ऊँचाई,
इसमें सागर की गहराई,
इसकी गति मदिर-मदिर मंथर
यह सौम्य शांत तन्वंगा है. हिन्दी....
पावन पुनीत यह प्रांजल है,
अक्षर-अक्षर यह गंगाजल है,
यह परम पुनीता शैलसुता,
अघहारी, शिव अरधंगा है. हिन्दी....
हिन्दी संतों की ज्ञान-गिरा,
वह भगतों की भगती मधुरा
साखी, सबद, अभंगों की
यह वाणी विमल तरंगा है. हिन्दी....

कंकर-कंकर इसका शंकर
विषपायी शिव-सा प्रलयंकर
खाता गम, पीता गरल घूँट,
बम्म भोला-सा अड़बंगा है. हिन्दी....
जिसने अवरोधों को तोड़ा
जिसने संस्कृतियों को जोड़ा
धर्म-धेनु के दोहन की यह
फेनिल धार उत्तंगा है. हिन्दी....
यह जन से जन को जोड़ेगी
यह अवरोधों को तोड़ेगी
संस्कृति-संगम की प्रतीक,
गीर्वाण सुता यह गंगा है. हिन्दी....

# जब मैंने पहली निजी पुस्तक ख़रीदी

**डॉ. धर्मवीर भारती**

अगस्त १९८९, बचने की उम्मीद नहीं थी। तीन-तीन ज़बर्दस्त हार्ट अटैक, एक के बाद एक। एक तो ऐसा कि नब्ज़ बन्द, सांस बन्द, धड़कन बंद। डाक्टरों ने घोषित कर दिया कि अब प्राण नहीं रहे। पर डॉ. बोर्जस ने फिर भी हिम्मत नहीं हारी थी। उन्होंने १०० वाल्ट्स के शॉक्स दिए, भयानक प्रयोग। लेकिन वे बोले कि यदि यह मृत शरीर मात्र है तो दर्द महसूस ही नहीं होगा,पर यदि कहीं भी जरा भी एक कण प्राण शेष होंगे तो हार्ट रिवाइव कर सकता है।

प्राण तो लौटे पर इस प्रयोग में ६० प्रतिशत हार्ट सदा के लिए नष्ट हो गया। केवल ४० प्रतिशत बचा। उसमें भी तीन अवरोध हैं। ओपेन हार्ट ऑपरेशन तो करना ही होगा। पर सर्जन हिचक रहे हैं। केवल ४० प्रतिशत हार्ट है। ऑपरेशन के बाद न रिवाइव हुआ तो? तय हुआ कि अन्य विशेषज्ञों की राय ले ली जाय तब कुछ दिन बाद ऑपरेशन की सोचेंगे। तब तक घर जाकर बिना हिले-डुले विश्राम करें।

बहरहाल, ऐसी अर्द्धमृत्यु की हालत में वापस घर लाया जाता हूँ। मेरी ज़िद है कि बेडरूम में नहीं, मुझे अपने किताबों वाले कमरे में ही रक्खा जाए। वहीं लिटा दिया गया है मुझे। चलना, बोलना पढ़ना मना। दिन भर पड़े-पड़े दो ही चीज़े देखता रहता हूँ। बायीं ओर की खिड़की के सामने रह-रह कर हवा के झूलते सुपारी के पेड़ के झालदार पत्ते, और अन्दर कमरे में चारों ओर फ़र्श से लेकर छत तक ऊँची, किताबों से ठसाठस भरी आलमारियाँ। बचपन में परीकथाओं में जैसे पढ़ते थे कि राजा के प्राण उसके शरीर में नहीं तोते में रहते हैं, वैसे ही लगता था कि मेरे प्राण इस शरीर से तो निकल चुके हैं, वे प्राण इन हज़ारों किताबों में बसे हैं जो पिछले चालीस-पचास बरस में धीरे-धीरे मेरे पास जमा होती गई हैं।

कैसे जमा हुई, संकलन की शुरुआत कैसे हुई, यह कथा बाद में सुनाऊँगा। पहले तो यह बताना ज़रूरी है किताबें पढ़ने और सहेजने का शौक कैसे जागा। बचपन की बात है। उस समय आर्यसमाज का सुधारवादी आन्दोलन अपने पूरे ज़ोर पर था। मेरे पिता आर्यसमाज रानीमण्डी के प्रधान थे और माँ ने स्त्री शिक्षा के लिए आदर्श कन्या पाठशाला की स्थापना की थी।

पिता की अच्छी-ख़ासी सरकारी नौकरी थी, वर्मा रोड जब बन रही थी तब बहुत कमाया था उन्होंने। लेकिन मेरे जन्म के पहले ही गाँधी जी के आह्वान पर उन्होंने सरकारी नौकरी छोड़ दी थी। हम लोग बड़े आर्थिक कष्टों से गुज़र रहे थे फिर भी घर में नियमित पत्र-पत्रिकाएँ आती थीं 'आर्यमित्र' साप्ताहिक, 'वेदोदय', 'सरस्वती', 'गृहिणी' और दो बाल पत्रिकाएँ ख़ास मेरे लिए- 'बालसखा' और 'चमचम'। उनमें होती थीं परियों, राजकुमारों, दानवों और सुन्दरी राजकन्याओं की कहानियाँ और रेखाचित्र। मुझे पढ़ने की चाट लग गई। हर समय पढ़ता रहता। खाना खाते समय थाली के पास पत्रिकाएँ रख कर पढ़ता। अपनी दोनों पत्रिकाओं के अलावा भी 'सरस्वती' और 'आर्यमित्र' पढ़ने की कोशिश करता।

घर में पुस्तकें भी थीं। उपनिषदें और उनके हिन्दी अनुवाद। सत्यार्थ प्रकाश। 'सत्यार्थ प्रकाश' के खण्डन-मण्डन वाले अध्याय पूरी तरह समझ में नहीं आता था पर पढ़ने में मज़ा आता था। मेरी प्रिय पुस्तक थी स्वामी दयानन्द की एक जीवनी, रोचक शैली में लिखी हुई, अनेक चित्रों से सुसज्जित। वे तत्कालीन पाखण्डों के विरुद्ध अदम्य साहस दिखाने वाले अद्भुत व्यक्तित्व थे। कितनी ही रोमांचक घटनाएँ थीं उनके जीवन की जो मुझे बहुत प्रभावित करती थीं। चूहे को भगवान का मीठा खाते देख कर मान लेना कि प्रतिमाएँ भगवान नहीं होती, घर छोड़कर भाग जाना। तमाम तीर्थों, जंगलों, गुफ़ाओं, हिम शिखरों पर साधुओं के बीच घूमना और हर जगह इसकी तलाश करना कि भगवान क्या है? सत्य क्या है? जो भी समाज विरोधी, मनुष्य विरोधी मूल्य हैं, रूढ़ियाँ हैं उनका खण्डन करना और अन्त में अपने हत्यारे को क्षमा कर उसे सहारा देना। यह सब मेरे बालमन को बहुत रोमांचित करता। जब इस सबसे थक जाता तब फिर 'बलसखा' और 'चमचम' की पहले पढ़ी हुई कथाएँ दुबारा पढ़ता।

माँ स्कूली पढ़ाई पर ज़ोर देतीं। चिंतित रहतीं कि लड़का कक्षा की किताबें नहीं पढ़ता। पास कैसे होगा। कहीं खुद साधु बन कर फिर से भाग गया तो? पिता कहते जीवन में यही पढ़ाई काम आएगी पढ़ने दो। मैं स्कूल नहीं भेजा गया था, शुरू की पढ़ाई के लिए घर पर मास्टर रक्खे गए थे। पिता नहीं चाहते थे कि नासमझ उम्र में मैं गलत संगति में पड़ कर गाली गलौज सीखूँ, बुरे संस्कार ग्रहण करूँ।

अत: स्कूल में मेरा नाम लिखाया गया जब मैं कक्षा दो तक की पढ़ाई घर पर कर चुका था। तीसरे दर्ज़े में भर्ती हुआ। उस दिन शाम को पिता उँगली पकड़ कर मुझे घुमाने ले गए। लोकनाथ की एक दुकान से ताज़ा अनार का शर्बत मिट्टी के कुल्हड़ में पिलाया और सर पर हाथ रख कर बोले- 'वायदा करो कि पाठयक्रम की किताबें भी इतने ही ध्यान से पढ़ोगे, माँ की चिंता मिटाओगे। 'उनका आशीर्वाद था या मेरा जी तोड़ परिश्रम कि तीसरे, चौथे में मेरे अच्छे नम्बर आए और पाँचवे दर्जे में तो मैं फर्स्ट आया।

माँ ने आँसू भर कर गले लगा लिया, पिता मुस्कुराते रहे कुछ बोले नहीं। चूँकि अंग्रेज़ी में मेरे नम्बर सबसे ज़्यादा थे अत: स्कूल से इनाम में दो अंग्रेज़ी किताबें मिली थीं। एक में दो छोटे बच्चे घोंसलों की खोज में बागों और कुंजों में भटकते हैं और इस बहाने पक्षियों की जातियाँ, उनकी बोलियाँ, उनकी आदतों की जानकारी उन्हें मिलती हैं। दूसरी किताब थी 'ट्रस्टी द रग' जिसमें पानी के जहाज़ों की कथाएँ थी, कितने प्रकार के होते हैं। कौन-कौन-सा माल लाद कर लाते हैं, कहाँ से लाते हैं, कहाँ ले जाते हैं, नाविकों की ज़िन्दगी कैसी होती हैं, कैसे कैसे जीव मिलते हैं, कहाँ व्हेल होती है, कहाँ शार्क होती है।

इन दो किताबों ने एक नई दुनिया का द्वार मेरे लिए खोल दिया। पक्षियों से भरा आकाश, और रहस्यों से भरा समुद्र। पिता ने आलमारी के एक खाने में अपनी चीज़ें हटा कर जगह बनाई और मेरी दोनों किताबें उस खाने में रख कर कहा, 'आज से यह खाना तुम्हारी अपनी किताबों का। यह तुम्हारी अपनी लाइब्रेरी है।' यहाँ से आरम्भ हुई उस बच्चे की लाइब्रेरी। बच्चा किशोर हुआ, स्कूल से कॉलेज, कॉलेज से युनिवर्सिटी गया, डाक्टरेट हासिल की, युनिवर्सिटी में अध्यापन किया, अध्यापन छोड़ कर इलाहाबाद से बम्बई आया, सम्पादन किया उसी अनुपात में अपनी लाइब्रेरी का विस्तार करता गया।

बरस दर बरस इकट्ठी होती गई ये तमाम किताबें। पर आप पूछ सकते हैं कि किताबें पढ़ने का शौक तो ठीक। किताबें इकट्ठी करने की सनक क्यों सवार हुई। उसका कारण भी बचपन का एक अनुभव है। इलाहाबाद भारत के प्रख्यात शिक्षा केन्द्रों में एक रहा है। ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा स्थापित पब्लिक लाइब्रेरी से लेकर महामना मदन मोहन मालवीय द्वारा स्थापित भारती भवन तक। विश्वविद्यालय की लाइब्रेरी तथा अनेक कॉलेजों की लाइब्रेरी अलग। वहाँ हाइकोर्ट है अत: वकीलों की निजी लाइब्रेरियाँ, अध्यापकों की निजी लाइब्रेरियाँ।

अपनी लाइब्रेरी वैसी कभी होगी यह तो स्वप्न में भी नहीं सोच सकता था, पर अपने मुहल्ले में एक लाइब्रेरी थी हरि भवन। स्कूल से छुट्टी मिली कि मैं उसमें जाकर जम जाता था। पिता दिवंगत हो चुके थे, लाइब्रेरी का चन्दा चुकाने का पैसा नहीं था, अत: वहीं बैठकर किताबें निकलवा कर पढ़ता रहता था। उन दिनों हिन्दी में विश्व साहित्य, विशेषकर उपन्यासों के खूब अनुवाद हो रहे थे। मुझे उन अनूदित उपन्यासों को पढ़ कर बड़ा सुख मिलता था। अपने छोटे से हरि भवन में खूब उपन्यास थे। वहीं परिचय हुआ बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय की 'दुर्गेशनन्दिनी', 'कपाल कुण्डला' और 'आनंद मठ' से। टॉलस्टाय की 'अन्ना करेनिना', 'विक्टर ह्यूगो का 'पेरिस का कुबड़ा', 'हंचबैक ऑफ नात्रेदाम', गोर्की की ' मदर', अलेक्जेंण्डर कुप्रिन का 'गाड़िवानों का कटरा' (यामा, दपिट) और सबसे मनोरंजक सर्वा-रीज़ का 'विचित्र वीर' (यानी डान क्विक्जोट) हिन्दी के ही माध्यम से सारी दुनिया के कथा पात्रों से मुलाक़ात करना कितना आकर्षक था।

लाइब्रेरी खुलते ही पहुँच जाता और जब लाइब्रेरियन शुक्ल जी कहते कि बच्चा अब उठो, पुस्तकालय बन्द करना है तब बड़ी अनिच्छा से उठता। जिस दिन कोई उपन्यास अधूरा छूट जाता, उस दिन मन में कसक होती कि काश इतने पैसे होते कि सदस्य बन कर किताब ईश्यू करा लाता, या काश इस किताब को ख़रीद पाता तो घर में रखता। एक बार पढ़ता, दो बार पढ़ता, बार-बार पढ़ता पर जानता था कि यह सपना ही रहेगा। भला कैसे पूरा हो पाएगा।

पिता के देहावसान के बाद तो आर्थिक संकट इतना बढ़ गया कि पूछिए मत। फीस जुटाना तक मुश्किल था। अपने शौक की किताबें ख़रीदना तो सम्भव ही नहीं था। एक ट्रस्ट से योग्य पर असहाय छात्रों को पाठ्य पुस्तकें ख़रीदने के लिए कुछ रुपए सत्र के आरम्भ में मिलते थे। उनसे प्रमुख पाठ्य पुस्तकें 'सेकेण्ड हैंण्ड' ख़रीदता था, बाकी अपने सहपाठियों से लेकर पढ़ता और नोट्स बना लेता। उन दिनों परीक्षा के बाद छात्र अपनी पुरानी पाठ्य पुस्तकें आधे दाम में बेच देते और उस कक्षा में आने वाले नए लेकिन विपन्न छात्र ख़रीद लेते। इसी तरह काम चलता।

लेकिन फिर भी मैंने जीवन की पहली साहित्यिक पुस्तक अपने पैसों से कैसे ख़रीदी, यह आज तक याद है।

उस साल इण्टरमीडियेट पास किया था। पुरानी पाठ्य पुस्तकें बेच कर बी.ए. की पाठ्य पुस्तकें लेने एक सेकण्ड हैण्ड बुक शॉप पर गया। उस बार जाने कैसे पाठ्य पुस्तकें ख़रीद कर भी दो रुपए बच गए थे। सामने के सिनेमाघर में 'देवदास' लगा था न्यू थियेटर्स वाला। बहुत चर्चा थी उसकी। लेकिन मेरी माँ को सिनेमा देखना बिल्कुल नापसंद था। उसी से बच्चे बिगड़ते हैं। लेकिन उसके गाने सिनेमा गृह के बाहर बजते थे। उसमें सहगल का एक गाना था 'दुख के दिन अब बीतत नाहीं' उसे अक्सर गुनगुनाता रहता था। कभी-कभी गुनगुनाते आँखों में आँसू आ जाते थे जाने क्यों। एक दिन माँ ने सुना। माँ का दिल तो आखिर माँ का दिल। एक दिन बोलीं - दुख के दिन बीत जाएँगे बेटा, दिल इतना छोटा क्यों करता है धीरज से काम ले।' जब उन्हें मालूम हुआ कि यह तो फिल्म 'देवदास' का गाना है, तो सिनेमा की घोर विरोधी माँ ने कहा - अपना मन क्यों मारता है, जाकर पिक्चर देख आ। पैसे मैं दे दूँगी।' मैंने माँ को बताया कि 'किताबें बेच कर दो रुपए मेरे पास बचे हैं।' वे दो रुपए लेकर माँ की सहमति से फिल्म देखने गया।

पहला शो छूटने में देर थी, पास में अपनी परिचित किताब की दूकान थी। वहीं चक्कर लगाने लगा। सहसा देखा काउन्टर पर एक पुस्तक रक्खी है - 'देवदास' , लेखक शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय - दाम केवल एक रुपया। मैंने पुस्तक उठा कर उलटी-पलटी तो पुस्तक विक्रेता बोला - 'तुम विद्यार्थी हो। यहीं अपनी पुस्तकें बेचते हो। हमारे पुराने ग्राहक हो। तुमसे अपना कमीशन नहीं लूँगा। केवल दस आने में यह किताब दे दूँगा।' मेरा मन पलट गया। कौन देखे डेढ़ रुपए में पिक्चर? दस आने में 'देवदास' ख़रीदी। जल्दी-जल्दी घर लौट आया और दो रुपए में से बचे एक रुपया छ: आना माँ के हाथ में रख दिए।

'अरे तू लौट कैसे आया? पिक्चर नहीं देखी?' माँ ने पूछा।

'नहीं माँ! फिल्म नहीं देखी, यह किताब ले आया। देखो।' माँ की आँखों में आँसू आ गए। खुशी के थे, या दुख के यह नहीं मालूम। वह मेरे अपने पैसों से ख़रीदी, मेरी अपनी निजी लाइब्रेरी की पहली किताब थी।

आज जब अपने पुस्तक संकलन पर नज़र डालता हूँ जिसमें हिन्दी अंग्रेज़ी उपन्यास, नाटक, कथा संकलन, जीवनियाँ, संस्मरण, इतिहास, कला, पुरातत्व, राजनीति की हज़ारहों पुस्तकें हैं - तब कितनी शिद्दत से याद आती है अपनी पहली पुस्तक की ख़रीदारी। रेनर मारिया रिल्के, स्टीफेन ज्वीग, मोपांसा, चेखव, टॉल्स्टाय, दोस्तावस्की येसेनिना, मायकोवस्की, सोल्जेनित्सीन, स्टीफेन स्पेण्डर, आडेन, एज़रा पाउण्ड, यूजीन ओनील, ज्यां पाल सार्त्र, आल्बेयर कामू, आयोनेस्को, के साथ पिकासो, ब्रुगेल, रेम्ब्राँ, हेब्बार, हुसेन तथा हिन्दी में कबीर, तुलसी, सूर, रसखान, जायसी, प्रेमचंद, पंत, निराला, महादेवी और जाने कितने लेखकों, चिन्तकों की इन कृतियों के बीच अपने को कितना भरा-भरा महसूस करता हूँ।

मराठी के वरिष्ठ कवि विन्दा करन्दीकर ने कितना सच कहा था उस दिन। मेरा आपरेशन सफल होने के बाद वे देखने आए थे बोले - 'भारती ये सैंकड़ों महापुरुष जो पुस्तक रूप में तुम्हारे चारों ओर विराजमान हैं। इन्हीं के आशीर्वाद से तुम बचे हो। इन्होंने तुम्हें पुनर्जीवन दिया है।' मैंने मन ही मन प्रणाम किया विन्दा को भी, इन महानुभावों को भी।

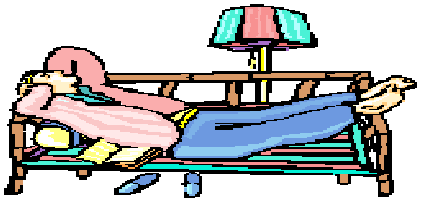

# प्रवासी भारतीय दिवस – शैक्षिक , सांस्कृतिक, साहित्यिक आयाम भी केंद्र में रहें

**अनिल जोशी**

जब भी हम प्रवासियों की बात करते है तो हमारे दिमाग में कौन सा चित्र उभरता है ? आज से ३०-३५ साल पहले तक हमारे दिमाग में डायसपोरा का जो चित्र उभरता था वह मॉरीशस और सूरीनाम के भारतीय मूल के लोगों का था। वह रामचरित मानस का संदर्भ लिए हुए था जो उन्हें अपनी जड़ों से जोड़े हुए था। परंतु ८० के दशक से भारत छलाँग लगाने लगा । भारत के प्रोफेशनल ब्रिटेन और अमरीका पहुँचे। उनमें विश्वविजय का आत्मविश्वास था । उनके ह्रदय में भारत बसा था। ९० के दशक में भारत पर आए आर्थिक संकट के समय उन्होंने देश की मदद की। भारत सरकार ने भी उनके महत्व को समझते हुए उन्हें देश से जोड़े रखने का मेक्निज्म विकसित करने की आवश्यकता महसूस की और इस दृष्टि से डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया। समिति की सिफारिशों के आधार पर प्रवासी भारतीय दिवस का आयोजन प्रारंभ हुआ।

आज जब हम प्रवासी भारतीयों की बात करते हैं तो हमारे ध्यान में लक्ष्मी मित्तल और स्वराज पाल ही आते हैं और सारे कार्यक्रमों, सम्मेलनों और आयोजनों का फोकस उन्हीं पर रहता है। परंतु इस वित्तीय चकाचौंध में हमें प्रवासियों के साथ शैक्षिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक संबंधों के महत्व को नहीं भूलना चाहिए। प्राय: प्रवासी यह चाहते हैं कि उनके बच्चों को भारतीय मूल्य संस्कार में मिलें और इसके लिए वह भारत में उपयुक्त शिक्षा संस्थानों की तलाश करते हैं। आज जब भारत के आई.आई.टी आदि तकनीकी संस्थान दुनिया में अपनी श्रेष्ठता का लोहा स्थापित कर चुके हैं। प्रवासी अपने बच्चों को उनमें पढ़ाने की ललक पालने लगे हैं। इस दृष्टि से प्रवासी विद्यार्थियों को भारत यात्रा पर बुलाने की प्रवासी मंत्रालय की योजना प्रशंसनीय है। इसी कड़ी में यू.के हिंदी समिति और अक्षरम् द्वारा आयोजित हिंदी ज्ञान प्रतियोगिता भी सराहनीय है। प्रवासी कार्य मंत्रालय द्वारा डायसपोरा विश्व-विद्यालय खोला जाना एक उल्लेखनीय कदम होगा । इसे ठोस धरातल पर लाने के लिए सरकार को तत्काल कदम उठाने चाहिए।

आज संस्कृति का अर्थ बालीवुड तक सिमट गया है। भारत के शास्त्रीय संगीत और शास्त्रीय नृत्य न केवल प्रवासियों बल्कि विदेशियों में भी काफी लोकप्रिय हैं। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद डॉ. कर्ण सिंह और पवन वर्मा के नेतृत्व में प्रशंसनीय कार्य कर रही है, उसे संसाधनों की दृष्टि से और मज़बूत करने की आवश्यकता है। विश्वभर में फैले भारतीय डायसपोरा की सांस्कृतिक आवश्यकताओं को समझने और उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप संसाधन और नेटवर्क विकसित करना एक महत्वपूर्ण आवश्यकता है।

प्रवासी भारतीय दिवस पर हिंदी और भारतीय भाषाएँ गायब हैं। भाषा, संस्कृति और अस्मिता आपस में गुँथे हुए हैं। इसलिए विदेशों में लिखे जाने वाले हिंदी और भारतीय भाषाओं के साहित्य को आवश्यक महत्व दिया जाना चाहिए। ८वें विश्व हिंदी सम्मेलन में प्रसारित प्रधानमंत्री के भाषण में प्रवासी साहित्य के महत्व को रेखांकित किया गया था साथ ही विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में इसे रखने की बात कही गई थी । भारत सरकार और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को इस संबंध में तत्काल कार्यवाही करनी चाहिए।

शैक्षिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक आयामों पर निवेश एक दीर्घकालिक निवेश है इनको विचार के केन्द्र की परिधि में से बाहर करना जड़ों के बजाए पत्तों को सींचने जैसा होगा।

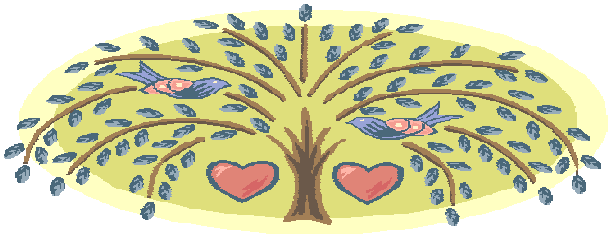

# गणतन्त्र दिवस

डॉ. शंभु नाथ

आया शुभ गणतन्त्र दिवस है
भारतीय दुर्भाग्य अस्त है
जड़-चेतन, नभ-धरा मस्त है
असफलता, दु:ख-दैन्य पस्त है.

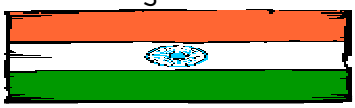

दूर-दूर तक आज हमारी
खुशियाँ बिखरी जायें
तीन रंग से बना तिरंगा
घर-घर में लहराये.

घर-घर में लहराये झण्डा
घर-घर में लहराये
यह संदेश सुनाये झण्डा
यह संदेश सुनाये -

'भारतवर्ष गुलाम नहीं है
अँग्रेजों से काम नहीं है
भेदभाव का नाम नहीं है
मक्कारों का धाम नहीं है.'

यह संदेश सुनाये झण्डा
यह संदेश सुनाये
तीन रंग से बना तिरंगा
घर-घर में लहराये.

# क्या फागुन की फगुनाई है

## डॉ. डंडा लखनवी

क्या फागुन की फगुनाई है।
डाली - डाली बौराई है।।
हर ओर सृष्टि मादकता की-
कर रही मुफ़्त सप्लाई है।।

धरती पर नूतन वर्दी है।
ख़ामोश हो गई सर्दी है।।
कर दिया समर्पण भौरों ने-
कलियों में गुंडागर्दी है।।

मनहूसी मटियामेट लगे।
खच्चर भी अपटुडेट लगे।।
फागुन में काला कौआ भी-
सीनियर एडवोकेट लगे।।

मत इसे आप समझें मज़ाक।
मुर्गा - मुर्गी हों या पिकाक।।
बालीवुड के मॉडल जैसे-
करते वन - वन में कैटवाक।।

अब इस सज्जन से आप मिलो।

जो फ़िश पर फ़िदा हमेशा हो।।
अप्रेन पहने रहता सफ़ेद-
है बगुला लगता सी.एम.ओ.।।

बागों में करते दौरे हैं।
गालों में भरे गिलौरे हैं।।
देखो तो इनका रसिक रूप-
कवि जैसे लगते भौरे हैं।।

जय हो कविता कालिन्दी की।
जय रंग - रंगीली बिंदी की।।
मेकअप में वाह तितलियाँ भी-
लगतीं कवयित्री हिन्दी की।।

वो साड़ी में थी हरी - हरी।
रसभरी रसों से भरी - भरी।।
नैनों से डाका डाल गई-
बंदूक दग गई धरी - धरी।।

यह फागुन की अँगड़ाई है।
गुम हो जाती तनहाई है।।
स्वीकारो हँसी - ठिठोली के-
मौसम की यही बधाई है।।

# स्नेह ठाकुर की प्रकाशित पुस्तकें

| | |
|---|---|
| अनमोल हास्य क्षण | ( नाटक-संग्रह ) |
| जीवन के रंग | ( काव्य-संग्रह ) |
| दर्दे-ज़ुबाँ | ( नज़्म व ग़ज़ल संग्रह ) |
| आज का पुरुष | ( कहानी-संग्रह ) |
| जीवन-निधि | ( काव्य-संग्रह ) |
| आत्म-गुंजन | ( आध्यात्मिक-दार्शनिक गीत ) |
| हास-परिहास | ( हास्य कविताएँ ) |
| ज़ज़्बातों का सिलसिला | ( काव्य-संग्रह ) |
| The Galaxy Within | (A collection of English poems) |
| अनुभूतियाँ | ( काव्य-संग्रह ) |
| काव्य-वृष्टि | ( संकलन एवं संपादन ) |
| पूरब-पश्चिम | ( आप्रवासी सम्बन्धित आलेख संग्रह ) |
| बौछार | ( संकलन एवं संपादन ) |
| काव्य हीरक | ( संकलन एवं संपादन ) |
| संजीवनी | ( स्वास्थ्य सम्बन्धी लेख ) |
| उपनिषद् दर्शन | ( अध्यात्मिक ) |
| काव्य-धारा | ( संकलन एवं संपादन ) |
| काव्यांजलि | ( काव्य-संग्रह ) |
| अनोखा साथी | ( कहानी-संग्रह ) |
| कैकेयी : चेतना-शिखा | ( उपन्यास ) |

## प्रकाशक व वितरक


स्टार पब्लिकेशंज़ (प्रा.) लि.
४/५ बी., आसफ अली रोड
नई दिल्ली - ११०००२
भारत
Star Publishers' Distributors
55, Warren Street
LONDON – W1T 5NW
England


दिल्ली प्रेस की सरिता व अन्य राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय
पत्रिकाओं में भी रचनाएँ प्रकाशित